A

BIBLIOTHECA BUDDHICA. VII.

NYĀYABINDU

БУДДІЙСКІЙ УЧЕБНИКЪ ЛОГИКИ

СОЧИНЕНІЕ ДАРМАКИРТИ

И ТОЛКОВАНІЕ НА НЕГО

NYĀYABINDUṬĪKĀ

СОЧИНЕНІЕ ДАРМОТТАРЫ

САНСКРИТСКІЙ ТЕКСТЪ ИЗДАЛЪ СЪ ВВЕДЕНІЕМЪ И ПРИМѢЧАНІЯМИ

Ѳ. И. Щербатской.

I.

ПЕТРОГРАДЪ, 1918.

ПРОДАЕТСЯ ВЪ КНИЖНОМЪ СКЛАДѢ РОССІЙСКОЙ АКАДЕМІИ НАУКЪ И У ЕЯ КОМИССІОНЕРОВЪ:

И. И. Глазунова и **К. Л. Риккера** въ Петроградѣ; **Н. П. Карбасникова** въ Петроградѣ и Москвѣ; **Н. Я. Оглоблина** въ Петроградѣ и Кіевѣ; **Люзакъ и Комп.** въ Лондонѣ.

Цѣна: 3 р. = 3 Rbl.

BIBLIOTHECA BUDDHICA. VII.

NYĀYABINDU

БУДДІЙСКІЙ УЧЕБНИКЪ ЛОГИКИ

СОЧИНЕНІЕ ДАРМАКИРТИ

И ТОЛКОВАНІЕ НА НЕГО

NYĀYABINDUṬĪKĀ

СОЧИНЕНІЕ ДАРМОТТАРЫ

САНСКРИТСКІЙ ТЕКСТЪ ИЗДАЛЪ СЪ ВВЕДЕНІЕМЪ И ПРИМѢЧАНІЯМИ

Ѳ. И. Щербатской.

I.

ПЕТРОГРАДЪ, 1918.

ПРОДАЕТСЯ ВЪ КНИЖНОМЪ СКЛАДѢ РОССІЙСКОЙ АКАДЕМІИ НАУКЪ И У ЕЯ КОМИССІОНЕРОВЪ:

И. И. Глазунова и **К. Л. Риккера** въ Петроградѣ; **Н. П. Карбасникова** въ Петроградѣ, и Москвѣ; **Н. Я. Оглоблина** въ Петроградѣ и Кіевѣ; **Люзакъ** и Комп. въ Лондонѣ.

Цѣна: 3 р. = 3 Rbl.

Напечатано по распоряженію Россійской Академіи Наукъ.

Декабрь 1918. Непремѣнный Секретарь академикъ *С. Ольденбургъ.*

Предисловіе.

Настоящій выпускъ Bibliotheca Buddhica заключаетъ въ себѣ санскритскій текстъ сочиненія Дармакирти Nyāyabindu вмѣстѣ съ подробнымъ на него толкованіемъ Дармоттары Nyāyabindutīkā. Первое изданіе обоихъ этихъ сочиненій появилось въ 1889 году въ Калькуттѣ въ серіи Bibliotheca Indica и мы обязаны имъ неутомимой энергіи покойнаго проф. P. Peterson. Тамъ же во введеніи Питерсонъ сообщаетъ объ обстоятельствахъ, при которыхъ были найдены въ джайнскихъ книгохранилищахъ обѣ рукописи, которыми онъ пользовался для изданія. Нельзя поставить въ вину уважаемому издателю, которому наука обязана открытіемъ и изданіемъ цѣлаго ряда интересныхъ памятниковъ, если его изданіе помянутыхъ двухъ сочиненій въ настоящее время не можетъ удовлетворять строгимъ научнымъ требованіямъ. Съ того времени, къ которому относится его изданіе, значительно подвинулось впередъ наше знакомство съ техническимъ стилемъ индійскихъ научныхъ сочиненій такъ называемыхъ шастръ. Кромѣ того мною были опубликованы 1) тибетскій переводъ обоихъ сочиненій[1], 2) сочиненіе Nyāyabindutīkāṭippaṇī, представляющее собою толкованіе на первую часть сочиненія Дармоттары[2] и 3) русскій переводъ обоихъ

[1] Bibl. Buddhica, VIII.

[2] Ibid., XI.

сочиненій съ введеніемъ и примѣчаніями[1]. Эти новые матеріалы и работы были использованы мною при подготовкѣ новаго изданія. Но кромѣ того, во время пребыванія въ Калькуттѣ въ 1910 году въ библіотекѣ тамошняго Азіатскаго Общества мною была найдена еще другая неиспользованная Питерсономъ рукопись Nyāyabinduṭīkā.

Благодаря любезности секретаря Общества Dr. Denison Ross, рукопись эта была переслана намъ для пользованія въ Азіатскій Музей Академіи Наукъ. Она писана на пальмовыхъ листахъ обыкновеннаго формата непальскимъ шрифтомъ, не полна, не хватаетъ нѣсколькихъ листовъ въ началѣ и отдѣльныхъ листовъ въ серединѣ[2].

Текстъ Nyāyabindu напечатанъ вмѣстѣ съ текстомъ Nyāyabinduṭīkā. Для удобства ссылокъ текстъ раздѣленъ какъ-бы на сутры, которыя пронумерованы, такъ же какъ это мною сдѣлано при изданіи тибетскаго и русскаго переводовъ.

Появляющееся теперь изданіе даетъ возможность приступить къ печатанію примѣчаній къ изданію тибетскаго перевода, чего до сихъ поръ нельзя было дѣлать, такъ какъ желательно было всѣ ссылки на санскритскій оригиналъ отнести уже къ новому изданію.

Ѳ. Щербатской.

---

[1] Теорія познанія и логика по ученію позднѣйшихъ буддистовъ. Ч. I. Учебникъ логики Дармакирти съ толкованіемъ на него Дармоттары. (Изд. Фак. Вост. Яз. № XIV).

[2] Ко времени отсылки рукопись не была еще закаталогизирована. Во время войны печатаніе каталога рукописей библіотеки Asiatic Society of Bengal не прерывалось. Нами было послано въ Калькутту описаніе находившейся въ Азіатскомъ Музеѣ рукописи для помѣщенія въ печатавшемся каталогѣ. Но дошло ли оно по назначенію и вышелъ ли каталогъ изъ печати, за прекращеніемъ сношеній, остается неизвѣстнымъ. Болѣе подробное описаніе рукописей будетъ дано нами во второмъ выпускѣ, который, вѣроятно, закончитъ изданіе.

श्रीमदाचार्यधर्मकीर्तिविरचितं

न्यायबिन्दुप्रकरणम् ।

आचार्यधर्मोत्तरकृतया न्यायबिन्दुटीकया संवलितम् ।

ओं नमः सर्वज्ञाय ।

प्रथमः परिच्छेदः ।

सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद्व्युत्पाद्यते ॥ १ ॥

जयन्ति जातिव्यसनप्रबन्ध-
प्रसूतिहेतोर्जगतो विजेतुः ।
रागाद्यरातेः सुगतस्य वाचो
मनस्तमस्तानवमादधानाः ॥

सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वेत्यादिनास्य प्रकरणस्याभिधेयप्रयोजनमुच्यते । द्विविधं हि प्रकरणशरीरं शब्दो ऽर्थश्चेति । तत्र शब्दस्य स्वाभिधेयप्रतिपादनमेव प्रयोजनं । नान्यत् । अतस्तन्न निरूप्यते । अभिधेयं तु यदि निष्प्रयोजनं स्यात्तदा तत्प्रतिपत्तये शब्दसंदर्भो ऽपि नारम्भणीयः स्यात् । यथा काकदन्तप्रयोजनाभावान्न तत्परीक्षारम्भणीया प्रेक्षावता । तस्मादस्य प्रकरणस्यारम्भणीयत्वं दर्शयताभिधेयप्रयोजनमनेनोच्यते । यस्मात्स-

म्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः ' तस्मात्तत्प्रतिपत्त्यर्थमिदमारभ्यत इत्ययमत्र वाक्यार्थः। अत्र च प्रकरणाभिधेयस्य सम्यग्ज्ञानस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वं प्रयोजनमुक्तम्। अस्मिंश्चार्थ उच्यमाने संबन्धप्रयोजनाभिधेयान्युक्तानि भवन्ति। तथा हि पुरुषार्थोपयोगि सम्यग्ज्ञानं व्युत्पादयितव्यमनेन प्रकरणेनेति ब्रुवता सम्यग्ज्ञानमस्य शब्दसंदर्भस्याभिधेयं ' तद्व्युत्पादनं प्रयोजनं ' प्रकरणं चेदमुपायो व्युत्पादनस्येत्युक्तं भवति। तस्मादभिधेयभागप्रयोजनाभिधानसामर्थ्यात्संबन्धादीन्युक्तानि भवन्ति। न त्विदमेकं वाक्यं संबन्धमभिधेयं प्रयोजनं च वक्तुं साक्षात्समर्थम्। एकं तु वदत्त्रयं सामर्थ्याद्दर्शयति। तत्र तदित्यभिधेयपदम्। व्युत्पाद्यत इति प्रयोजनपदम्। प्रयोजनं चात्र वक्तुः प्रकरणकरणव्यापारस्य चिन्त्यते श्रोतुश्च श्रवणव्यापारस्य। तथा हि सर्वे प्रेक्षावन्तः प्रवृत्तिप्रयोजनमन्विष्य प्रवर्तन्ते। ततश्चाचार्येण प्रकरणं किमर्थं कृतं श्रोतृभिश्च किमर्थं श्रूयत इति संशये व्युत्पादनं प्रयोजनमभिधीयते। सम्यग्ज्ञानं व्युत्पाद्यमानानात्मानं व्युत्पादकं कर्तुं प्रकरणमिदं कृतं शिष्यैश्चाचार्यप्रयुक्तानात्मनो व्युत्पत्तिमिच्छद्भिः प्रकरणमिदं श्रूयत इति प्रकरणकरणश्रवणयोः प्रयोजनं व्युत्पादनम्। संबन्धप्रदर्शनपदं तु न विद्यते। सामर्थ्यादेव तु स प्रतिपत्तव्यः। प्रेक्षावता हि सम्यग्ज्ञानव्युत्पादनाय प्रकरणमिदमारब्धवतानेनैवोपायो नान्य इति दर्शित एवोपायोपेयभावः प्रकरणप्रयोजनयोः संबन्ध इति।

ननु च प्रकरणश्रवणात्प्रागुक्तान्यप्यभिधेयादीनि प्रमाणाभावात्प्रेक्षावद्भिर्न गृह्यन्ते। तत्किमेतैरारम्भप्रदेश उक्तैः। सत्यं ' अश्रुते प्रकरणे कथितान्यपि न निश्चीयन्ते। उक्तेषु त्वप्रमाणिकेष्वप्यभिधेयादिषु संशय उत्पद्यते। संशयाच्च प्रवर्तन्ते। अर्थसंशयोऽपि हि प्रवृत्त्यङ्गं प्रेक्षावतां ' अनर्थसंशयो निवृत्त्यङ्गम्। अत एव शास्त्रकारेणैव पूर्वं संबन्धादीनि युज्यन्ते वक्तुम्। व्याख्यातृणां हि वचनं क्रीडार्थमन्यथापि संभाव्यते। शास्त्रकृतां तु प्रकरणप्रारम्भे न विपरीताभिधेयाद्यभिधाने प्रयोजनमुत्पश्यामो नापि प्रवृत्तिम्। अतस्तेषु संशयो युक्तः। अनुक्तेषु तु प्रतिपत्तृभिर्निष्प्रयोजनमभिधेयं संभाव्येतास्य प्रकरणस्य काकदन्तपरीक्षाया इव ' अशक्यानुष्ठानं वा ज्वरहरतक्षकचूडारत्नालंकारोपदेशवत् ' अनभिमतं वा प्रयोजनं मातृविवाहक्रमोपदेशवत् ' अन्यो वा प्रकरणाल्लघुतर उपायः

प्रयोजनस्य, अनुपाय एव वा प्रकारणं संभाव्येत। एतासु चानर्थसंभावनास्वेकस्यामप्यनर्थसंभावनायां न प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते। उक्तेषु त्वभिधेयादिष्वर्थसंभावनानर्थसंभावनाविरुद्धोत्पद्यते। तथा प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्त इति प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यङ्गमर्थसंभावनां कर्तुं संबन्धादीन्यभिधीयन्त इति स्थितम्।

अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन्संवादक उच्यते। तद्वज्ज्ञानमपि प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्संवादकमुच्यते। प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वं, नान्यत्। तथा हि न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति, अपि त्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत्प्रापयत्यर्थम्। प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव। न हि पुरुषं हठात्प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम्। अत एव चार्थाधिगतिरेव प्रमाणफलम्। अधिगते चार्थे प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः। तथा च सत्यर्थाधिगमात्समाप्तः प्रमाणव्यापारः। अत एवानधिगतविषयं प्रमाणम्। येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थस्तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः। तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम्। ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम्। तत्र योऽर्थो दृष्टत्वेन ज्ञातः स प्रत्यक्षेण प्रवृत्तिविषयीकृतः। यस्माद्यस्मिन्नर्थे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तस्य प्रदर्शकं प्रत्यक्षं, तस्माद्दृष्टतया ज्ञातः प्रत्यक्षदर्शितः। अनुमानं तु लिङ्गदर्शनान्निश्चिन्वत्प्रवृत्तिविषयं दर्शयति। तथा च प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतमर्थं दर्शयति। अनुमानं च लिङ्गसंबद्धं नियतमर्थं दर्शयति। अत एते नियतस्यार्थस्य प्रदर्शके। तेन ते प्रमाणे। नान्यद्विज्ञानम्। प्राप्तुं शक्यमर्थमादर्शयत्प्रापकम्। प्रापकत्वाच्च प्रमाणम्। आभ्यां प्रमाणाभ्यामन्येन ज्ञानेन प्रदर्शितोऽर्थः कश्चिदत्यन्तविपर्यस्तः, यथा मरीचिकासु जलम्। स चासत्त्वात्प्राप्तुमशक्यः। कश्चिदनियतो भावाभावयोः, यथा संशयार्थः। न च भावाभावाभ्यां युक्तोऽर्थो जगत्यस्ति। ततः प्राप्तुमशक्यस्तादृशः। सर्वेण चालिङ्गेन विकल्पेन नियामकमदृष्ट्वा प्रवृत्तेन भावाभावयोरनियत एवार्थो दर्शयितव्यः। स च प्राप्तुमशक्यः। तस्मादशक्यप्रापणमत्यन्तविपरीतं भावाभावानियतं चार्थं दर्शयदप्रमाणमन्यज्ज्ञानम्। अर्थक्रियार्थिभिश्चार्थक्रियासमर्थप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मृग्यते। यच्च तैर्मृग्यते तदेव शास्त्रे विचार्यते। ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं

सम्यग्ज्ञानम्। यच्च तेन प्रदर्शितं तदेव प्रापणीयम्। अर्थाधिगमात्मकं हि प्रापकमित्युक्तम्। तत्र प्रदर्शितादन्यद्वस्तु भिन्नाकारं भिन्नदेशं भिन्नकालं च। विरुद्धधर्मसंसर्गाद्ध्यन्यद्वस्तु। देशकालाकारभेदश्च विरुद्धधर्मसंसर्गः। तस्मादन्याकारवद्वस्तुग्राहि नाकारान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम्। यथा पीतशङ्खग्राहि शुक्ले शङ्खे। देशान्तरस्थग्राहि च न देशान्तरस्थे प्रमाणम्। यथा कुञ्चिकाविवरदेशस्थायां मणिप्रभायां मणिग्राहि ज्ञानं नापवरकदेशस्थे मणौ। कालान्तरयुक्तग्राहि च न कालान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम्। यथार्धरात्रे मध्याह्नकालवस्तुग्राहि स्वप्नज्ञानं नार्धरात्रकाले वस्तुनि प्रमाणम्।

ननु देशनियतमाकारनियतं च प्रापयितुं शक्यं, यत्कालं तु परिच्छिन्नं तत्कालं न शक्यं प्रापयितुम्। नोच्यते यस्मिन्नेव काले परिच्छिद्यते तस्मिन्नेव काले प्रापयितव्यमिति। अन्यो हि दर्शनकालोऽन्यश्च प्राप्तिकालः। किं तु यत्कालं परिच्छिन्नं तदेव प्रापणीयम्। अभेदाध्यवसायाच्च संतानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमिति।

सम्यग्ज्ञानं पूर्वं कारणं यस्याः सा तथोक्ता। कार्यात्पूर्वं भवत्कारणं पूर्वमुक्तम्। कारणशब्दोपादाने तु पुरुषार्थसिद्धेः साक्षात्कारणं गम्येत। पूर्वशब्दे तु पूर्वमात्रम्। द्विविधं च सम्यग्ज्ञानं, अर्थक्रियानिर्भासं, अर्थक्रियासमर्थे च प्रवर्तकम्। तयोर्यत्प्रवर्तकं तदिह परीक्ष्यते। तच्च पूर्वमात्रं, न तु साक्षात्कारणम्। सम्यग्ज्ञाने हि सति पूर्वदृष्टस्मरणम्। स्मरणादभिलाषः। अभिलाषात्प्रवृत्तिः। प्रवृत्तेश्च प्राप्तिः। ततो न साक्षाद्धेतुः। अर्थक्रियानिर्भासात्तु यद्यपि साक्षात्प्राप्तिस्तथापि तन्न परीक्षणीयम्। यत्रैव हि प्रेक्षावतो ऽर्थिनः साशङ्कास्तत्परीक्ष्यते। अर्थक्रियानिर्भासे च ज्ञाने सति सिद्धः पुरुषार्थः। तेन तत्र न साशङ्का अर्थिनः। अतस्तन्न परीक्षणीयम्। तस्मात्परीक्षार्हमसाक्षात्कारणं सम्यग्ज्ञानमादर्शयितुं कारणशब्दं परित्यज्य पूर्वग्रहणं कृतम्।

पुरुषस्यार्थः। अर्थ्यत इत्यर्थः। काम्यत इति यावत्। हेयो ऽर्थ उपादेयो वा। हेयो ह्यर्थो हातुमिष्यते, उपादेयो ऽप्युपादातुम्। न च हेयोपादेयाभ्यामन्यो राशिरस्ति। उपेक्षणीयो ह्यनुपादेयत्वाद्धेय एव। तस्य सिद्धिर्हानमुपादानं च। हेतुनिबन्धना हि सिद्धिरुत्पत्तिरुच्यते। ज्ञाननिबन्धना तु सिद्धिरनुष्ठानम्। हेयस्य हानमनुष्ठानं, उपादेयस्य

चोपादानम्। ततो हेयोपादेययोर्हानोपादानलक्षणानुष्ठितिः सिद्धिरित्युच्यते।

सर्वा चासौ पुरुषार्थसिद्धिश्चेति। सर्वशब्द इह द्रव्यकार्त्स्न्ये वृत्तो न प्रकारकार्त्स्न्ये। ततो नायमर्थः द्विप्रकारापि सिद्धिः सम्यग्ज्ञाननिबन्धनेति। अपि त्वयमर्थः या काचित्सिद्धिः सा सर्वा कृत्स्नैवासौ सम्यग्ज्ञाननिबन्धनैवेति। मिथ्याज्ञानाद्धि काकतालीयापि नास्त्यर्थसिद्धिः। तथा हि यदि प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्येवं ततो भवत्यर्थसिद्धिः। प्रदर्शितं च प्रापयत्सम्यग्ज्ञानमेव। प्रदर्शितं चाप्रापयन्मिथ्याज्ञानम्। अप्रापकं च कथमर्थसिद्धिनिबन्धनं स्यात्। तस्माद्यन्मिथ्याज्ञानं न ततो ऽर्थसिद्धिः। यतश्चार्थसिद्धिस्तत्सम्यग्ज्ञानमेव। अत एव सम्यग्ज्ञानं यत्नतो व्युत्पादनीयम्। यतस्तदेव पुरुषार्थसिद्धिनिबन्धनं ततो यावद्ब्रूयात्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्ज्ञाननिबन्धनैवेति तावदुक्तं सर्वा सा सम्यग्ज्ञानपूर्विकेति। इतिशब्दस्तस्मादित्यस्मिन्नर्थे। यत्तदोश्च नित्यमभिसंबन्धः। तदयमर्थो यस्मात्सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्तद्व्युत्पाद्यते। यद्यपि च समासे गुणीभूतं सम्यग्ज्ञानं तथापीह प्रकरणे व्युत्पादयितव्यत्वात्प्रधानम्। ततस्तस्यैव तच्छब्देन संबन्धः।

व्युत्पाद्यत इति। विप्रतिपत्तिनिराकरणेन प्रतिपाद्यते व्युत्पाद्यत इति। चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः। संख्यालक्षणगोचरफलविषया। तत्र संख्याविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह

द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् ॥ २ ॥

द्विविधमिति। द्वौ विधौ प्रकारावस्येति द्विविधम्। संख्याप्रदर्शनद्वारेण च व्यक्तिभेदो दर्शितो भवति। द्वे सम्यग्ज्ञानव्यक्ती इति। व्यक्तिभेदे प्रदर्शिते प्रतिव्यक्तिनियतं सम्यग्ज्ञानलक्षणमाख्यातुं शक्यम्। अप्रदर्शिते तु व्यक्तिभेदे सकलव्यक्त्यनुयायि सम्यग्ज्ञानलक्षणमेकं न शक्यं वक्तुम्। ततो लक्षणभेदकथनाङ्गमेव संख्याभेदकथनम्। अप्रदर्शिते व्यक्तिभेदात्मके संख्याभेदे लक्षणभेदस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। लक्षणनिर्देशाङ्गत्वादेव च प्रथमं संख्याभेदकथनम्।

किं पुनस्तद्द्वैविध्यमित्याह

प्रत्यक्षमनुमानं च ॥ ३ ॥

प्रत्यक्षमिति । प्रतिगतमाश्रितमक्षम् । अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीययेति समासः । प्राप्तापन्नालंगतिसमासेषु परवल्लिङ्गप्रतिषेधादभिधेयवल्लिङ्गे सति सर्वलिङ्गः प्रत्यक्षशब्दः सिद्धः । अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन त्वक्षाश्रितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते । तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किंचिदर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तत्प्रत्यक्षमुच्यते । यदि त्वक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि । यथा गच्छतीति गौरिति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति, तथा च गच्छत्यगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति ।

मीयतेऽनेनेति मानम् । करणसाधनेन मानशब्देन सामान्यलक्षणं प्रमाणमभिधीयते । लिङ्गग्रहणसंबन्धस्मरणस्य पश्चान्मानमनुमानम् । गृह्यते पक्षधर्मे स्मृते च साध्यसाधनसंबन्धेऽनुमानं प्रवर्तत इति पश्चात्कालभाव्युच्यते । चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति । यथार्थाविनाभावित्वादर्थं प्रापयत्प्रत्यक्षं प्रमाणं, तद्वदर्थाविनाभावित्वादनुमानमपि परिच्छिन्नमर्थं प्रापयत्प्रमाणमिति ।

तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् ॥ ४ ॥

तत्रेति सप्तम्यर्थे वर्तमानो निर्धारणे वर्तते । ततोऽयं वाक्यार्थः । तत्र तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिति समुदायनिर्देशः, प्रत्यक्षमित्येकदेशः । तत्र समुदायात्प्रत्यक्षत्वजात्यैकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । तत्र प्रत्यक्षमनूद्य कल्पनापोढत्वमभ्रान्तत्वं च विधीयते । यदेतद्भवतामस्माकं चार्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रसिद्धं तत्कल्पनापोढाभ्रान्तत्वयुक्तं द्रष्टव्यम् । न चैतन्मन्तव्यं कल्पनापोढाभ्रान्तत्वं चेदप्रसिद्धं किमन्यत्प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य रूपमवशिष्यते यत्प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सदनूद्येतेति । यस्मादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यर्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सर्वेषां सिद्धं, तदनुवादेन कल्पनापोढाभ्रान्तत्व-

विधिः। कल्पनाया अपोढमपेतं कल्पनापोढम्। कल्पनास्वभावरहितमित्यर्थः। अभ्रान्तमर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपे ऽविपर्यस्तमुच्यते। अर्थक्रियाक्षमं वस्तुरूपं संनिवेशोपाधिवर्णात्मकम्। तत्र यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तम्। एतच्च लक्षणद्वयं विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं, न त्वनुमाननिवृत्त्यर्थम्। यतः कल्पनापोढग्रहणेनैवानुमानं निवर्तितम्। तत्राभ्रान्तग्रहणं गच्छद्वृक्षदर्शनादि प्रत्यक्षं कल्पनापोढत्वात्स्यात्। ततो हि प्रवृत्तेन वृक्षमात्रमवाप्यत इति संवादकत्वात्सम्यग्ज्ञानं, कल्पनापोढत्वाच्च प्रत्यक्षमिति स्यादाशङ्का। तन्निवृत्त्यर्थमभ्रान्तग्रहणम्। तद्धि भ्रान्तत्वान्न प्रत्यक्षम्। त्रिरूपलिङ्गत्वाभावाच्च नानुमानम्। न च प्रमाणान्तरमस्ति। अतो गच्छद्वृक्षदर्शनादि मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति। यदि मिथ्याज्ञानं कथं ततो वृक्षावाप्तिरिति चेत्। न ततो वृक्षावाप्तिः। नानादेशगामी हि वृक्षस्तेन परिच्छिन्नः। एकदेशनियतश्च वृक्षोऽवाप्यते। ततो यद्देशो गच्छद्वृक्षो दृष्टस्तद्देशो नावाप्यते। यद्देशश्चावाप्यते स न दृष्ट इति। न तस्मात्कश्चिदर्थोऽवाप्यते। ज्ञानान्तरादेव तु वृक्षादिरर्थोऽवाप्यते। इत्येवमभ्रान्तग्रहणं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्। भ्रान्तं ह्यनुमानं, स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात्। प्रत्यक्षं तु ग्राह्ये रूपे न विपर्यस्तम्। न त्वविसंवादकमभ्रान्तमिह ग्रहीतव्यम्। यतः सम्यग्ज्ञानमेव प्रत्यक्षं, नान्यत्। तत्र सम्यग्ज्ञानत्वादेवाविसंवादकत्वे लब्धे पुनरविसंवादकग्रहणं निष्प्रयोजनमेव। एवं हि वाक्यार्थः स्यात्, प्रत्यक्षाख्यं यदविसंवादकं ज्ञानं तत्कल्पनापोढमविसंवादकं चेति। न चानेन द्विरविसंवादकग्रहणेन किंचित्। तस्माद्ग्राह्येऽर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपे यदविपर्यस्तं तदभ्रान्तमिह वेदितव्यम्।

कीदृशी पुनः कल्पनेह गृह्यत इत्याह,

अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना ॥ ५ ॥

अभिलाप इति। अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापः, वाचकः शब्दः। अभिलापेन संसर्ग एकस्मिञ्ज्ञाने ऽभिधेयाकारस्याभिधानाकारेण सह ग्राह्याकारतया मिलनम्। ततो यदैकस्मिञ्ज्ञाने ऽभिधेयाभिधानयोराकारौ संनिविष्टौ भवतस्तदा संसृष्टे अभिधानाभिधेये भवतः।

अभिलापसंसर्गाय योग्यो ऽभिधेयाभासो यस्यां प्रतीतौ सा तथोक्ता। तत्र काचित्प्रतीतिरभिलापेन संसृष्टाभासा भवति। यथा व्युत्पन्नसंकेतस्य घटार्थकल्पना घटशब्दसंसृष्टार्थावभासा भवति। काचित्त्वभिलापेनासंसृष्टाप्यभिलापसंसर्गयोग्याभासा भवति। यथा बालकस्याव्युत्पन्नसंकेतस्य कल्पना। तत्राभिलापसंसृष्टाभासा कल्पनेत्युक्तावव्युत्पन्नसंकेतस्य न संगृह्येत। योग्यग्रहणे तु सापि संगृह्यते। यद्यप्यभिलापसंसृष्टाभासा न भवति तदज्ञातस्य कल्पना। अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा तु भवत्येव। या चाभिलापसंसृष्टा सापि योग्या। तत उभयोरपि योग्यग्रहणेन संग्रहः।

असत्यभिलापसंसर्गे कुतो योग्यतावसितिरिति चेत्। अनियतप्रतिभासत्वात्। अनियतप्रतिभासत्वं च प्रतिभासनियमहेतोरभावात्। ग्राह्यो ह्यर्थो विज्ञानं जनयन्नियतप्रतिभासं कुर्यात्। यथा रूपं चक्षुर्विज्ञानं जनयन्नियतप्रतिभासं जनयति। विकल्पविज्ञानं त्वर्थान्नोत्पद्यते। ततः प्रतिभासनियमहेतोरभावादनियतप्रतिभासम्।

कुतः पुनरेतद्विकल्पो ऽर्थान्नोत्पद्यत इति। अर्थसंनिधिनिरपेक्षत्वात्। बालो ऽपि हि यावद्दृश्यमानं स्तनं स एवायमिति पूर्वदृष्टत्वेन न प्रत्यवमृशति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने। पूर्वदृष्टापरदृष्टं चार्थमेकीकुर्वद्विज्ञानमसंनिहितविषयं। पूर्वदृष्टस्यासंनिहितत्वात्। असंनिहितविषयं चार्थनिरपेक्षम्। अनपेक्षं च प्रतिभासनियमहेतोरभावादनियतप्रतिभासम्। तादृशं चाभिलापसंसर्गयोग्यम्। इन्द्रियविज्ञानं तु संनिहितमात्रग्राहित्वादर्थसापेक्षम्। अर्थस्य च प्रतिभासनियमहेतुत्वान्नियतप्रतिभासम्। ततो नाभिलापसंसर्गयोग्यम्। अत एव स्वलक्षणस्यापि वाच्यवाचकभावमभ्युपगम्यैतदविकल्पकत्वमुच्यते। यद्यपि हि स्वलक्षणमेव वाच्यं वाचकं च भवेत्तथाप्यभिलापसंसृष्टार्थं विज्ञानं सविकल्पकम्। न चेन्द्रियविज्ञानमर्थेन नियमितप्रतिभासत्वादभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं भवतीति निर्विकल्पकम्। श्रोत्रज्ञानं तर्हि शब्दस्वलक्षणग्राहि। शब्दस्वलक्षणं किंचिद्वाच्यं किंचिद्वाचकमित्यभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं स्यात्। तथा च सविकल्पकं स्यात्। नैष दोषः। सत्यपि स्वलक्षणस्य वाच्यवाचकभावे संकेतकालदृष्टत्वेन गृह्यमाणं स्वलक्षणं वाच्यं वाचकं च गृहीतं स्यात्। न च संकेतकालभाविदर्शनविषयत्वं वस्तुनः

संप्रत्यस्ति । यथा हि संकेतकालभाविदर्शनमद्य निरुद्धं तद्वत्तद्विषयत्वमप्यर्थस्याद्य नास्ति । ततः पूर्वकालदृष्टत्वमपश्यच्छ्रोत्रज्ञानं न वाच्यवाचकभावग्राहि । अनेनैव न्यायेन योगिज्ञानमपि सकलशब्दार्थावभासित्वे ऽपि संकेतकालदृष्टत्वाग्रहणान्निर्विकल्पकम् ।

तया रहितं तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ॥ ६ ॥

तया कल्पनया कल्पनास्वभावेन रहितं शून्यं सज्ज्ञानं यदभ्रान्तं तत्प्रत्यक्षमिति परेण संबन्धः । कल्पनापोढत्वाभ्रान्तत्वे परस्परसापेक्षे प्रत्यक्षलक्षणं । न प्रत्येकमिति दर्शयितुं तया रहितं यदभ्रान्तं तत्प्रत्यक्षमिति लक्षणयोः परस्परसापेक्षयोः प्रत्यक्षविषयत्वं दर्शितमिति । तिमिरमक्ष्णोर्विप्लवः । इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणमलातादेः । मन्दं भ्राम्यमाणे ऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते । तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम् । एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम् । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यत इति यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम् । संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम् । वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्चाध्यात्मगतं विभ्रमकारणम् । सर्वैरेव च विभ्रमकारणैरिन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैरिन्द्रियमेव विकर्तव्यम् । अविकृत इन्द्रिय इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात् । एते संक्षोभपर्यन्ता आदयो येषां ते तथोक्ताः । आदिग्रहणेन काचकामलादय इन्द्रियस्था गृह्यन्ते । आशुनयनानयनादयो विषयस्थाः । आशुनयनानयने हि कार्यमाणे ऽलाते ऽग्निवर्णदण्डाभासा भ्रान्तिर्भवति । हस्तियानादयो बाह्याश्रयस्थाः । गाढमर्मप्रहारादय आध्यात्मिकाश्रयस्था विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते । तैरनाहितो विभ्रमो यस्मिंस्तत्तथाविधं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

तदेवं लक्षणमाख्याय यैरिन्द्रियमेव द्रष्टृ कल्पितं मानसप्रत्यक्षलक्षणे च दोष उद्भावितः स्वसंवेदनं च नाभ्युपगतं योगिज्ञानं च । तेषां विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं प्रकारभेदं प्रत्यक्षस्य दर्शयन्नाह ।

तच्चतुर्विधम् ॥ ७ ॥

तच्चतुर्विधमिति ।

इन्द्रियज्ञानम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियस्य ज्ञानमिन्द्रियज्ञानम् । इन्द्रियाश्रितं यत्तत्प्रत्यक्षम् ।

मानसप्रत्यक्षे परैर्यो दोष उद्भावितस्तं निराकर्तुं मानसप्रत्यक्षलक्षणमाह ।

स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ॥ ९ ॥

स्व आत्मीयो विषय इन्द्रियज्ञानस्य । तस्यानन्तरः । न विद्यते ऽन्तरमस्येति । अन्तरं च व्यवधानं विशेषश्चोच्यते । ततश्चान्तरे प्रतिषिद्धे समानजातीयो द्वितीयक्षणभाव्युपादेयक्षण इन्द्रियविज्ञानविषयस्य गृह्यते । तथा च सतीन्द्रियज्ञानविषयक्षणादुत्तरक्षण एकसंतानान्तर्भूतो गृहीतः । स सहकारी यस्येन्द्रियविज्ञानस्य तत्तथोक्तम् । द्विविधश्च सहकारी । परस्परोपकारी । एककार्यकारी च । इह च क्षणिके वस्तुन्यतिशयाधानायोगादेककार्यकारित्वेन सहकारी गृह्यते । विषयविज्ञानाभ्यां हि मनोविज्ञानमेकं क्रियते यतस्तदनयोर्न परस्परसहकारित्वम् । ईदृशेनेन्द्रियविज्ञानेनालम्बनप्रत्ययभूतेनापि योगिज्ञानं जन्यते । तन्निरासार्थं समनन्तरप्रत्ययग्रहणं कृतम् । समश्चासौ ज्ञानत्वेनानन्तरश्चासावव्यवहितत्वेन स चासौ प्रत्ययश्च हेतुत्वात्समनन्तरप्रत्ययः । तेन जनितम् । तदनेनैकसंतानान्तर्भूतयोरेवेन्द्रियज्ञानमनोज्ञानयोर्जन्यजनकभावे मनोविज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति । ततो योगिज्ञानं परसंतानवर्ति निरस्तम् । यदा चेन्द्रियज्ञानविषयादन्यो विषयो मनोविज्ञानस्य तदा गृहीतग्रहणादासञ्जितो ऽप्रामाण्यदोषो निरस्तः । यदा चेन्द्रियज्ञानविषयोपादेयभूतः क्षणो गृहीतस्तदेन्द्रियज्ञानेनागृहीतस्य विषयान्तरस्य ग्रहणादन्धबधिराद्यभावदोषप्रसङ्गो निरस्तः । एतच्च मनोविज्ञानमुपरतव्यापारे चक्षुषि प्रत्यक्षमिष्यते । व्यापारवति तु चक्षुषि यद्रूपज्ञानं तत्सर्वं चक्षुराश्रितमेव । इतरथा चक्षुराश्रितत्वानुपपत्तिः कस्यचिदपि

विज्ञानस्य । एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसं प्रत्यक्षम् । न त्वस्य प्रसाधकमस्ति प्रमाणम् । एवंजातीयकं तु यदि स्यान्न कश्चिद्दोषः स्यादिति वक्तुं लक्षणमाख्यातमस्येति ।

स्वसंवेदनमाख्यातुमाह ।

सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम् ॥ १० ॥

चित्तमर्थमात्रग्राहि । चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः । सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्च सर्वचित्तचैत्ताः । सुखादय एव स्फुटानुभवत्वात्स्वसंविदिताः । नान्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम् । नास्ति सा काचिच्चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात् । येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् । इह च रूपादौ वस्तुनि दृश्यमानेऽन्तरः सुखाद्याकारस्तुल्यकालं संवेद्यते । न च गृह्यमाणाकारो नीलादिः सातादिरूपो वेद्यत इति वक्तुं शक्यं । यतो नीलादिः सातरूपेणानुभूयत इति न निश्चीयते । यदि हि सातादिरूपोऽयं नीलादिरनुभूयत इति निश्चीयेत । स्यात्तस्य सातादिरूपत्वम् । यस्मिन्रूपे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत्प्रत्यक्षम् । न च नीलस्य सातरूपत्वमनुगम्यते । तस्मादसातान्नीलाद्यर्थादन्यदेव सातमनुभूयते नीलानुभवकाले । तच्च ज्ञानमेव । ततोऽस्ति ज्ञानानुभवः । तच्च ज्ञानरूपं वेदनमात्मनः साक्षात्कारि निर्विकल्पकमभ्रान्तं च तस्मात्प्रत्यक्षम् ।

योगिप्रत्यक्षं व्याख्यातुमाह ।

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ॥ ११ ॥

भूतः सद्भूतोऽर्थः । प्रमाणेन दृष्टश्च सद्भूतः । यथा चत्वार्यार्यसत्यानि । भूतार्थस्य भावना पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनम् । भावनायाः प्रकर्षो भाव्यमानार्थाभासस्य ज्ञानस्य स्फुटाभत्वारम्भः । प्रकर्षस्य पर्यन्तो यदा स्फुटाभत्वमीषदसंपूर्णं भवति । यावद्धि स्फुटाभत्वमपरिपूर्णं तावत्तस्य प्रकर्षगतिः । संपूर्णं तु यदा तदा नास्ति प्रकर्षगतिः । ततः संपूर्णावस्थायाः प्राक्तन्यवस्था स्फुटाभत्वं प्रकर्षपर्यन्त उच्यते । तस्मात्पर्यन्ताद्यज्जातं भाव्यमानस्य संनिहितस्येव स्फुटतराकारग्राहि ज्ञानं योगिनः

प्रत्यक्षम्। तदिह स्फुटाभत्वारम्भावस्था भावनाप्रकर्षः। अभ्रकव्यवहितमिव यदा भाव्यमानं वस्तु पश्यति सा प्रकर्षपर्यन्तावस्था। करतलामलकवद्भाव्यमानस्यार्थस्य यद्दर्शनं तद्योगिनः प्रत्यक्षम्। तद्धि स्फुटाभम्। स्फुटाभत्वादेव च निर्विकल्पकम्। विकल्पविज्ञानं हि संकेतकालदृष्टत्वेन वस्तु गृह्णच्छब्दसंसर्गयोग्यं गृह्णीयात्। संकेतकालदृष्टत्वं च संकेतकालोत्पन्नज्ञानविषयत्वम्। यथा च पूर्वोत्पन्नं विनष्टं ज्ञानं संप्रत्यसत्, तद्वत्पूर्वविनष्टज्ञानविषयत्वमपि संप्रति नास्ति वस्तुनः। तदसद्रूपं वस्तुनो गृह्णदसंनिहितार्थग्राहित्वादस्फुटाभम्। अस्फुटाभत्वादेव च सविकल्पकम्। ततः स्फुटाभत्वान्निर्विकल्पकम्। प्रमाणशुद्धार्थग्राहित्वाच्च संवादकम्। अतः प्रत्यक्षं, इतरप्रत्यक्षवत्। योगः समाधिः। स यस्यास्ति स योगी। तस्य ज्ञानं प्रत्यक्षम्। इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थः। इयदेव प्रत्यक्षमिति।

तदेवं प्रत्यक्षस्य कल्पनापोढत्वाभ्रान्तत्वयुक्तस्य प्रकारभेदं प्रतिपाद्य विषयविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह,

तस्य विषयः स्वलक्षणम्॥ १२॥

तस्येत्यादि। तस्य चतुर्विधप्रत्यक्षस्य विषयो बोद्धव्यः स्वलक्षणम्। स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्। वस्तुनो ह्यसाधारणं च तत्त्वमस्ति सामान्यं च। यदसाधारणं तत्प्रत्यक्षग्राह्यम्। द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य, ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति। अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः। प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः। अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन संतान एव। संतान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः, क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात्। तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि। स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतस्ततः स्वलक्षणमध्यवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य। अनर्थस्तु ग्राह्यः। तदत्र प्रमाणस्य ग्राह्यं विषयं दर्शयता प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषय उक्तः।

कः पुनरसौ विषयो ज्ञानस्य यः स्वलक्षणं प्रतिपत्तव्य इत्याह,

यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणम् ॥ १३ ॥

यस्यार्थस्येत्यादि । अर्थशब्दो विषयपर्यायः । यस्य ज्ञानविषयस्य । संनिधानं निकटदेशावस्थानम् । असंनिधानं दूरदेशावस्थानम् । तस्मात्संनिधानादसंनिधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य ग्राह्याकारस्य भेदः स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्याम् । यो हि ज्ञानस्य विषयः संनिहितः सन्स्फुटमाभासं ज्ञानस्य करोति, असंनिहितस्तु योग्यदेशावस्थित एवास्फुटं करोति, तत्स्वलक्षणम् । सर्वाण्येव हि वस्तूनि दूरादस्फुटानि दृश्यन्ते, समीपे स्फुटानि । तान्येव स्वलक्षणानि ।

कस्मात्पुनः प्रत्यक्षविषय एव स्वलक्षणम् । तथा हि विकल्पविषयोऽपि वह्निर्दृश्यात्मक एवावसीयत इत्याह,

तदेव परमार्थसत् ॥ १४ ॥

तदेव परमार्थसदिति । परमार्थोऽकृत्रिममनारोपितं रूपम् । तेनास्तीति परमार्थसत् । य एवार्थः संनिधानासंनिधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसन्स एव । स एव च प्रत्यक्षविषयो यतस्तस्मात्तदेव स्वलक्षणम् ।

कस्मात्पुनस्तदेव परमार्थसदित्याह,

अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः ॥ १५ ॥

अर्थ्यत इत्यर्थः । हेय उपादेयश्च । हेयो हि हातुमिष्यत उपादेयश्चोपादातुम् । अर्थस्य प्रयोजनस्य क्रिया निष्पत्तिः, तस्यां सामर्थ्यं शक्तिः, तदेव लक्षणं रूपं यस्य वस्तुनस्तदर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणम् । तस्य भावः, तस्मात् । वस्तुशब्दः परमार्थसत्पर्यायः । तदयमर्थः, यस्मादर्थक्रियासमर्थं परमार्थसदुच्यते, संनिधानासंनिधानाभ्यां च ज्ञानप्रतिभासस्य भेदकोऽर्थोऽर्थक्रियासमर्थः, तस्मात्स एव परमार्थसन् । तत एव हि प्रत्यक्षविषयादर्थक्रिया प्राप्यते, न विकल्पविषयात् । अत एव यद्यपि विकल्पविषयो दृश्य इवावसीयते

तथापि न दृश्य एव। ततो ऽर्थक्रियाभावात्। दृश्याच्च भावात्। अतस्तदेव स्वलक्षणं न विकल्पविषयम्।

अन्यत्सामान्यलक्षणम् ॥ १६ ॥

एतस्मात्स्वलक्षणाद्यदन्यत्स्वलक्षणं यो न भवति ज्ञानविषयस्तत्सामान्यलक्षणम्। विकल्पविज्ञानेनावसीयमानो ह्यर्थः संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासं न भिनत्ति। तथा ह्यारोप्यमाणो वह्निरारोपादस्ति। आरोपाच्च दूरस्थो निकटस्थश्च। तस्य समारोपितस्य संनिधानादसंनिधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य न भेदः स्फुटत्वेनास्फुटत्वेन वा। ततः स्वलक्षणादन्य उच्यते। सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम्। साधारणं रूपमित्यर्थः। समारोप्यमाणं हि रूपं सकलवह्निसाधारणम्। ततस्तत्सामान्यलक्षणम्।

तच्चानुमानस्य ग्राह्यं दर्शयितुमाह।

सो ऽनुमानस्य विषयः ॥ १७ ॥

सो ऽनुमानस्य विषयो ग्राह्यरूपः। सर्वनाम्नो ऽभिधेयवल्लिङ्गपरिग्रहः। सामान्यलक्षणमनुमानस्य विषयं व्याख्यातुकामेनायं स्वलक्षणस्वरूपाख्यानग्रन्थ आवर्तनीयः स्यात्। ततो लाघवार्थं प्रत्यक्षपरिच्छेद एवानुमानविषय उक्तः।

विषयविप्रतिपत्तिं निराकृत्य फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह।

तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम् ॥ १८ ॥

तदेवेति। यदेवानन्तरमुक्तं प्रत्यक्षं तदेव प्रमाणस्य फलम्।

कथं प्रमाणफलमित्याह।

अर्थप्रतीतिरूपत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थस्य प्रतीतिरवगमः। सैव रूपं यस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य तदर्थप्रतीतिरूपम्। तस्य भावः। तस्मात्। एतदुक्तं भवति। प्रापकं ज्ञानं प्रमाणम्। प्रापणशक्तिश्च न

केवलादर्थाविनाभावित्वाद्भवति । बीजाद्यविनाभाविनो ऽप्यङ्कुरादेरप्रापकत्वात् । तस्मादर्थादुत्पत्तावप्यस्य ज्ञानस्यास्ति कश्चिदवश्यकर्तव्यः प्रापकव्यापारो, येन कृतेनार्थः प्रापितो भवति । स एव च प्रमाणफलं, यदनुष्ठानात्प्रापकं भवति ज्ञानम् । उक्तं च पुरस्तात्, प्रवृत्तिविषयप्रदर्शनमेव प्रापकस्य प्रापकव्यापारो नाम । तदेव च प्रत्यक्षमर्थप्रतीतिरूपमर्थदर्शनरूपम् । अतस्तदेव प्रमाणफलम् ।

यदि तर्हि ज्ञानं प्रमितिरूपत्वात्प्रमाणफलं, किं तर्हि प्रमाणमित्याह,

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ॥ २० ॥

अर्थेन सह यत्सारूप्यं सादृश्यमस्य ज्ञानस्य तत्प्रमाणम् । इह यस्माद्विषयाज्ज्ञानमुदेति तद्विषयसदृशं तद्भवति । यथा नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशम् । तच्च सादृश्यमाकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते ।

ननु च ज्ञानादव्यतिरिक्तं सादृश्यम् । तथा च सति तदेव ज्ञानं प्रमाणं तदेव प्रमाणफलम् । न चैकं वस्तु साध्यं साधनं चोपपद्यते । तत्कथं सारूप्यं प्रमाणमित्याह ।

तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ॥ २१ ॥

तद्वशादिति । तदिति सारूप्यं तस्य वशात्सारूप्यसामर्थ्यात् । अर्थस्य प्रतीतिरवबोधः । तस्याः सिद्धिः । तत्सिद्धेः कारणात् । अर्थस्य प्रतीतिरूपं प्रत्यक्षं विज्ञानं सारूप्यवशात्सिध्यति, प्रतीतं भवतीत्यर्थः । नीलनिर्भासं हि विज्ञानं यतस्तस्मान्नीलस्य प्रतीतिरवसीयते । येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो विज्ञानमुत्पद्यते न तद्वशात्तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यते ऽवस्थापयितुम् । नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते । न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावो, येनैकस्मिन्वस्तुनि विरोधः स्यात् । अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन । तत एकस्य वस्तुनः किंचिद्रूपं प्रमाणं किंचित्प्रमाणफलं न विरुध्यते । व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य, व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम् । व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावो ऽपि कथमेकस्य ज्ञानस्येति चेत् । उच्यते । सदृश-

ननुभूयमानं तद्विज्ञानं यतो नीलस्य ग्राहकमवस्थाप्यते निश्चयप्रत्ययेन तस्मात्सारूप्यमनुभूतं व्यवस्थापनहेतुः । निश्चयप्रत्ययेन च तज्ज्ञानं नीलसंवेदनमवस्थाप्यमानं व्यवस्थाप्यम् । तस्मादसारूप्यव्यावृत्त्या सारूप्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापनहेतुः । अनीलबोधव्यावृत्त्या च नीलबोधरूपत्वं व्यवस्थाप्यम् । व्यवस्थापकश्च विकल्पप्रत्ययः प्रत्यक्षबलोत्पन्नो द्रष्टव्यः । न तु निर्विकल्पकत्वात्प्रत्यक्षमेव नीलबोधरूपत्वेनात्मानमवस्थापयितुं शक्नोति । निश्चयप्रत्ययेनाव्यवस्थापितं सदपि नीलबोधरूपं विज्ञानमसत्कल्पमेव । तस्मान्निश्चयेन नीलबोधरूपं व्यवस्थापितं विज्ञानं नीलबोधात्मना सद्भवति । तस्मादध्यवसायं कुर्वदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति । अकृते त्वध्यवसाये नीलबोधरूपत्वेनाव्यवस्थापितं भवति विज्ञानम् । तथा च प्रमाणफलमर्थाधिगमरूपत्वमनिष्पन्नम् । अतः साधकतमत्वाभावात्प्रमाणमेव न स्याज्ज्ञानम् । जनितेन त्वध्यवसायेन सारूप्यवशान्नीलबोधरूपे ज्ञाने व्यवस्थाप्यमाने सारूप्यं व्यवस्थापनहेतुत्वात्प्रमाणं सिद्धं भवति ।

यद्येवमध्यवसायसहितमेव प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यान्न केवलमिति चेत् । नैतदेवम् । यस्मात्प्रत्यक्षबलोत्पन्नेनाध्यवसायेन दृष्टत्वेनार्थोऽवसीयते नोत्प्रेक्षितत्वेन । दर्शनं चार्थसाक्षात्करणाख्यं प्रत्यक्षव्यापारः । उत्प्रेक्षणं तु विकल्पव्यापारः । तथा हि परोक्षमर्थं विकल्पयन्त उत्प्रेक्षामहे न तु पश्याम इत्युत्प्रेक्षात्मकं विकल्पव्यापारमनुभवादवस्यन्ति । तस्मात्स्वव्यापारं तिरस्कृत्य प्रत्यक्षव्यापारमादर्शयति यत्रार्थे प्रत्यक्षपृष्ठको ऽध्यवसायस्तत्र प्रत्यक्षं केवलमेव प्रमाणम् ॥

इति न्यायबिन्दुप्रकरणाद्य प्रत्यक्षपरिच्छेदः समाप्तः ॥

इति न्यायबिन्दुटीकायां प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥

अथ स्वार्थानुमानाद्वितीयपरिच्छेदः ।

एवं प्रत्यक्षं व्याख्यायानुमानं व्याख्यातुकाम आह ।

अनुमानं द्विधा ॥ १ ॥

अनुमानं द्विधा । द्विप्रकारम् । अथानुमानलक्षणे वक्तव्ये किमकस्मात्प्रकारभेदः कथ्यते । उच्यते । परार्थानुमानं शब्दात्मकं । स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम् । तयोरत्यन्तभेदान्नैकं लक्षणमस्ति । ततस्तयोः प्रतिनियतं लक्षणमाख्यातुं प्रकारभेदः कथ्यते । प्रकारभेदो हि व्यक्तिभेदः । व्यक्तिभेदे च कथिते प्रतिव्यक्तिनियतं लक्षणं शक्यते वक्तुम् । नान्यथा । ततो लक्षणनिर्देशाङ्गमेव प्रकारभेदकथनम् । अशक्यतां च प्रकारभेदकथनमन्तरेण लक्षणनिर्देशस्य ज्ञात्वा प्राक्प्रकारभेदः कथ्यत इति ।

किं पुनस्तद्द्वैविध्यमित्याह ।

स्वार्थं परार्थं च ॥ २ ॥

स्वस्मायिदं स्वार्थम् । येन स्वयं प्रतिपद्यते तत्स्वार्थम् । परस्मायिदं परार्थम् । येन परं प्रतिपादयति तत्परार्थम् ।

तत्र तयोः स्वार्थपरार्थानुमानयोर्मध्ये स्वार्थं ज्ञानं किंविशिष्टमित्याह ।

तत्र त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् ॥ ३ ॥

त्रिरूपादिति। त्रीणि रूपाणि यस्य वक्ष्यमाणलक्षणानि तत्त्रिरूपम्। लिङ्ग्यते गम्यते ऽनेनार्थ इति लिङ्गम्। तस्मात्त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यज्जातं ज्ञानमित्येतद्धेतुद्वारेण विशेषणम्। तत्त्रिरूपाच्च लिङ्गात्त्रिरूपलिङ्गालम्बनमप्युत्पद्यत इति विशिनष्टि। अनुमेय इत्येतच्च विषयद्वारेण विशेषणम्। त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदुत्पन्नमनुमेयालम्बनं ज्ञानं तत्स्वार्थमनुमानमिति।

लक्षणविप्रतिपत्तिं निराकृत्य फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह।

प्रमाणफलव्यवस्थात्रापि प्रत्यक्षवत् ॥ ४ ॥

प्रमाणस्य यत्फलं तस्य या व्यवस्थात्रानुमाने ऽपि प्रत्यक्षवत्प्रत्यक्ष इव वेदितव्या। यथा हि नीलसरूपं प्रत्यक्षमनुभूयमानं नीलबोधरूपमवस्थाप्यते। तेन नीलसारूप्यं व्यवस्थापनहेतुः प्रमाणम्। नीलबोधरूपं तु व्यवस्थाप्यमानं प्रमाणफलम्। तद्वदनुमानं नीलाकारमुत्पद्यमानं नीलबोधरूपमवस्थाप्यते। तेन नीलसारूप्यमस्य प्रमाणम्। नीलविकल्पनरूपं त्वस्य प्रमाणफलम्। सारूप्यवशाद्धि तन्नीलप्रतीतिरूपं सिध्यति। नान्यथेति।

एवमिह संख्यालक्षणफलविप्रतिपत्तयः। प्रत्यक्षपरिच्छेदे तु गोचरविप्रतिपत्तिर्निराकृता। लक्षणनिर्देशप्रसङ्गेन तु त्रिरूपं लिङ्गं प्रस्तुतम्। तदेव व्याख्यातुमाह।

त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव ॥ ५ ॥

त्रैरूप्यमित्यादि। लिङ्गस्य यत्त्रैरूप्यं यानि त्रीणि रूपाणि तदिदमुच्यत इति शेषः। किं पुनस्तत्त्रैरूप्यमित्याह। अनुमेयं वक्ष्यमाणलक्षणम्। तस्मिंल्लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमेकं रूपम्। यद्यपि चात्र निश्चितग्रहणं न कृतं तथाप्यत्र कृतं प्रथमान्तयोर्द्वयोरपि

त्रूपयोरपेक्षणीयम् । यतो न योग्यतया लिङ्गं परोक्षज्ञानस्य निमित्तम् । यथा बीजमङ्कुरस्य । अदृष्टाद्धूमादग्न्यप्रतिपत्तेः । नापि स्वविषयज्ञानापेक्षं परोक्षार्थप्रकाशनम् । यथा प्रदीपो घटादेः । दृष्टादप्यनिश्चितसंबन्धादप्रतिपत्तेः । तस्मात्परोक्षार्थनान्तरीयकतया निश्चयनमेव लिङ्गस्य परोक्षार्थप्रतिपादनव्यापारः । नापरः कश्चित् । अतो ऽन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मत्वनिश्चयो लिङ्गव्यापारात्मकत्वादवश्यकर्तव्य इति सर्वेषु रूपेषु निश्चितग्रहणमपेक्षणीयम् । तत्र सत्त्ववचनेनासिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम् । एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धो निरस्तो हेतुः । यथा चेतनास्तरवः स्वापादिति । पक्षीकृतेषु तरुषु पत्रसंकोचलक्षणः स्वापः एकदेशे न सिद्धः । न हि सर्वे वृक्षा रात्रौ पत्रसंकोचभाजः । किं तु केचिदेव । सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृतेनैवकारेणासाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि ह्यनुमेय एव सत्त्वमिति कुर्याच्छ्रावणत्वमेव हेतुः स्यात् । निश्चितग्रहणेन संदिग्धासिद्धः सर्वो निरस्तः ।

सपक्ष एव सत्त्वम् ॥ ६ ॥

सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः । तस्मिन्नेव सत्त्वं निश्चितं द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः । स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिकः । स हि न सपक्ष एव वर्तते । किं तूभयत्रापि । सत्त्वग्रहणात्पूर्वावधारणवचनेन सपक्षाव्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम् । पश्चादवधारणे त्वयमर्थः स्यात् । सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात् । निश्चितवचनेन संदिग्धान्वयो ऽनैकान्तिको निरस्तः । यथा सर्वज्ञः कश्चिद्वक्तृत्वात् । वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे संदिग्धम् ।

असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ॥ ७ ॥

असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः । तस्मिन्नसत्त्वमेव निश्चितं तृतीयं रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः । विरुद्धो हि विपक्षे ऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः । प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये ह्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्त्या-

काशादौ नास्ति । ततो नियमेनास्य निरासः । असत्त्ववचनात्पूर्वस्मिन्नवधारणे ऽप्यनर्थः स्यात् । विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षे ऽपि नास्ति । ततो न हेतुः स्यात् । ततः पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिको ऽनैकान्तिको निरस्तः ।

ननु च सपक्ष एव सत्त्वमित्युक्ते विपक्षे ऽसत्त्वमेवेति गम्यत एव । तत्किमर्थं पुनरुभयोरुपादानं कृतम् । तदुच्यते । अन्वयो व्यतिरेको वा नियमवानेव प्रयोक्तव्यो नान्यथेति दर्शयितुं द्वयोरप्युपादानं कृतम् । अनियमे हि द्वयोरपि प्रयोगे ऽप्यनर्थः स्यात् । सपक्षे यो ऽस्ति विपक्षे च नास्ति स हेतुरिति । तथा च सति स श्यामस्तत्पुत्रत्वाद्दृश्यमानपुत्रवदिति तत्पुत्रत्वं हेतुः स्यात् । तस्मान्नियमवतोरेवान्वयव्यतिरेकयोः प्रयोगः कर्तव्यो येन प्रतिबन्धो गम्येत साधनस्य साध्येन । नियमवतोश्च प्रयोगे ऽवश्यकर्तव्ये द्वयोरेक एव प्रयोक्तव्यो न द्वाविति नियमवानन्वयो व्यतिरेको वा प्रयोक्तव्य इति शिक्षणार्थं द्वयोरुपादानमिति ।

त्रैरूप्यकथनप्रसङ्गेनानुमेयः सपक्षो विपक्षश्चोक्तः । तेषां लक्षणं वक्तव्यम् । तत्र को ऽनुमेय इत्याह ।

अनुमेयो ऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी ॥ ८ ॥

अनुमेयो ऽत्रेत्यादि । अत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्म्यनुमेयः । अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायो ऽनुमेयः । व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मो ऽनुमेय इति दर्शयितुमत्रग्रहणम् । जिज्ञासितो ज्ञातुमिष्टो विशेषो धर्मो यस्य धर्मिणः स तथोक्तः ।

कः सपक्षः ।

साध्यधर्मसामान्येन समानो ऽर्थः सपक्षः ॥ ९ ॥

समानो ऽर्थः सपक्षः । समानः सदृशो यो ऽर्थः पक्षेण स सपक्ष उक्त उपचारात् । समानशब्देन विशेष्यते । समानः पक्षः सपक्षः । समानस्य च सभाव आदेशः । स्यादेतत् । किं

तत्पक्षसपक्षयोः सामान्यं येन समानः सपक्षः पक्षेणेत्याह । साध्यधर्मसामान्येनेति । साध्यश्चासावसिद्धत्वाद्धर्मश्च पराश्रितत्वात्साध्यधर्मः । न च विशेषः साध्यः । अपि तु सामान्यम् । अत इह सामान्यं साध्यमुक्तम् । साध्यधर्मश्चासौ सामान्यं चेति साध्यधर्मसामान्येन समानः पक्षेण सपक्ष इत्यर्थः ।

को ऽसपक्ष इत्याह ।

न सपक्षो ऽसपक्षः । ततो ऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्च ॥ १० ॥

न सपक्षो ऽसपक्षः । सपक्षो यो न भवति सो ऽसपक्षः । कश्च सपक्षो न भवति । ततः सपक्षादन्यः । तेन च विरुद्धः । तस्य च सपक्षस्याभावः । सपक्षादन्यत्वं तद्विरुद्धत्वं च न तावत्प्रत्येतुं शक्यं यावत्सपक्षस्वभावाभावो न विज्ञातः । तस्मादन्यत्वविरुद्धत्वप्रतीतिसामर्थ्यात्सपक्षाभावरूपौ प्रतीतावन्यविरुद्धौ । ततो ऽभावः साक्षात्सपक्षाभावरूपः प्रतीयते । अन्यविरुद्धौ तु सामर्थ्यादभावरूपौ प्रतीयेते । ततस्त्रयाणामप्यसपक्षत्वम् ।

त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि ॥ ११ ॥

उक्तेन त्रैरूप्येण त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानीति । चकारो वक्तव्यान्तरसमुच्चयार्थः । त्रैरूप्यमादौ पृष्टं त्रिरूपाणि च लिङ्गानि परेण । तत्र त्रैरूप्यमुक्तम् । त्रिरूपाणि चोच्यन्ते । त्रीण्येव त्रिरूपाणि लिङ्गानि । त्रयस्त्रिरूपलिङ्गप्रकारा इत्यर्थः ।

कानि पुनस्तानीत्याह ।

अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति ॥ १२ ॥

प्रतिषेध्यस्य साध्यस्यानुपलब्धिस्त्रिरूपा । विधेयस्य साध्यस्य स्वभावस्त्रिरूपः । कार्यं च ।

अनुपलब्धिमुदाहर्तुमाह ।

तत्रानुपलब्धिर्यथा न प्रदेशविशेषे क्वचिद्घट उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ॥ १३ ॥

यथेत्यादि । यथेत्युपप्रदर्शनार्थम् । यथेयमनुपलब्धिस्तथान्यापि । न त्वियमेवेत्यर्थः । प्रदेश एकदेशः । विशिष्यत इति विशेषः प्रतिपत्तृप्रत्यक्षः । तादृशश्च न सर्वः प्रदेशः । तदाह क्वचिदिति । प्रतिपत्तृप्रत्यक्षे क्वचिदेव प्रदेश इति धर्मी । न घट इति साध्यम् । उपलब्धिर्ज्ञानम् । तस्या लक्षणं जनिका सामग्री । तया ह्युपलब्धिर्लक्ष्यते । तत्प्राप्तो ऽर्थो जनकत्वेन सामग्र्यन्तर्भावात् । उपलब्धिलक्षणप्राप्तो दृश्य इत्यर्थः । तस्यानुपलब्धेरित्ययं हेतुः । अथ यो यत्र नास्ति स कथं तत्र दृश्यः । दृश्यत्वसमारोपादसन्नपि दृश्य उच्यते । यश्चैवं संभाव्यते यद्यसावत्र भवेद्दृश्य एव भवेदिति स तत्राविद्यमानो ऽपि दृश्यः समारोप्यः । कश्चैवं संभाव्यः । यस्य समग्राणि स्वालम्बनदर्शनकारणानि भवन्ति । कदा च तानि समग्राणि गम्यन्ते । यदैकज्ञानसंसर्गिवस्त्वन्तरोपलम्भः । एकेन्द्रियज्ञानग्राह्यं लोचनादिप्रणिधानाभिमुखं वस्तुद्वयमन्योन्यापेक्षमेकज्ञानसंसर्गि कथ्यते । तयोर्हि सतोर्नैकनियता भवति प्रतिपत्तिः । योग्यताया द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् । तस्मादेकज्ञानसंसर्गिणि दृश्यमाने सत्येकस्मिन्नितरत्समग्रदर्शनसामग्रीकं यदि भवेद्दृश्यमेव भवेदिति संभावितं दृश्यमारोप्यते । तस्यानुपलम्भो दृश्यानुपलम्भः । तस्मात्स एव घटविविक्तप्रदेशस्तदालम्बनं च ज्ञानं दृश्यानुपलम्भनिश्चयहेतुत्वाद्दृश्यानुपलम्भ उच्यते । यावद्ध्येकज्ञानसंसर्गि वस्तु न निश्चितं तज्ज्ञानं च न तावद्दृश्यानुपलम्भनिश्चयः । ततो वस्त्वप्यनुपलम्भ उच्यते तज्ज्ञानं च । दर्शननिवृत्तिमात्रं तु स्वयमनिश्चितत्वादगमकम् । ततो दृश्यघटरहितः प्रदेशस्तज्ज्ञानं च वचनसामर्थ्यादेव दृश्यानुपलम्भरूपमुक्तं द्रष्टव्यम् ।

का पुनरुपलब्धिलक्षणप्राप्तिरित्याह ।

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च ॥ १४ ॥

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटस्य । उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यमिति । ज्ञानस्य घटो ऽपि जनकः । अन्ये च चक्षुरादयः । घटाद्दृश्यादन्ये हेतवः प्रत्यया-

न्तराणि। तेषां साकल्यं संनिधिः। स्वभाव एव विशिष्यते तदन्यस्मादिति विशेषो विशिष्ट इत्यर्थः। तदयं विशिष्टः स्वभावः प्रत्ययान्तरसाकल्यं चैतद्रूपमुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटादेर्द्रष्टव्यम्।

कीदृशः स्वभावविशेष इत्याह।

सत्स्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु यः प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावः ॥ १५ ॥

सत्स्वित्यादि। उपलम्भस्य यानि घटादृश्यात्प्रत्ययान्तराणि तेषु सत्सु विद्यमानेषु यः स्वभावः सन्प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावविशेषः। तदयमत्रार्थः। एकप्रतिपत्त्रपेक्षमिदं प्रत्यक्षलक्षणम्। तथा च सति द्रष्टुं प्रवृत्तस्यैकस्य द्रष्टुर्दृश्यमान उभयवान्भावः। अदृश्यमानास्तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाः स्वभावविशेषरहिताः प्रत्ययान्तरसाकल्यवन्तस्तु। यैर्हि प्रत्ययैः स द्रष्टा पश्यति ते संनिहिताः। अतश्च संनिहिताय द्रष्टुं प्रवृत्तः सः। द्रष्टुमप्रवृत्तस्य तु योग्यदेशस्था अपि द्रष्टुं ते न शक्याः प्रत्ययान्तरवैकल्यवन्तः स्वभावविशेषयुक्तास्तु। दूरदेशकालास्तूभयविकलाः। तदेवं पश्यतः कस्यचिन्न प्रत्ययान्तरविकलो नाम। स्वभावविशेषविकलस्तु भवेत्। अपश्यतस्तु शक्यो द्रष्टुं योग्यदेशस्थः प्रत्ययान्तरविकलः। अन्ये तूभयविकला इति।

अनुपलब्धिमुदाहृत्य स्वभावमुदाहर्तुमाह।

स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः ॥ १६ ॥

स्वभावो हेतुरिति संबन्धः। कीदृशो हेतुः साध्यस्यैव स्वभाव इत्याह। स्वस्यात्मनः सत्ता सैव केवला स्वसत्तामात्रम्। तस्मिन्सति भवितुं शीलं यस्येति। यो हेतोरात्मनः सत्तामपेक्ष्य विद्यमानो भवति न तु हेतुसत्ताया व्यतिरिक्तं कंचिद्धेतुमपेक्षते स स्वसत्तामात्रभावी साध्यः। तस्मिन्साध्ये यो हेतुः स स्वभावः तस्य साध्यस्य नान्यः।

उदाहरणं यथेति।

यथा वृक्षो ऽयं शिंशपात्वादिति ॥ १७ ॥

अयमिति धर्मी । वृक्ष इति साध्यम् । शिंशपात्वादिति हेतुः । तदयमर्थो वृक्षव्यवहारयोग्यो ऽयं शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वादिति । तत्र प्रचुरशिंशपे देशे ऽविदितशिंशपाव्यवहारो जडो यदा केनचिदुच्चां शिंशपामुपदर्श्योच्यते अयं वृक्ष इति तदासौ जाड्याच्छिंशपाया उच्चत्वमपि वृक्षव्यवहारनिमित्तमवस्यति । तदा यामेवानुच्चां शिंशपां पश्यति तामेवावृक्षमवस्यति । स मूढः शिंशपात्वमात्रनिमित्ते वृक्षव्यवहारे प्रवर्त्यते । नोच्चत्वादि निमित्तान्तरमिह वृक्षव्यवहारस्य । अपि तु शिंशपात्वमात्रं निमित्तं शिंशपागतशाखादिमत्त्वं निमित्तमित्यर्थः ।

कार्यमुदाहर्तुमाह ।

कार्यं यथा । अग्निरत्र धूमादिति ॥ १८ ॥

अग्निरिति साध्यम् । अत्रेति धर्मी । धूमादिति हेतुः । कार्यकारणभावो लोके प्रत्यक्षानुपलम्भनिबन्धनः प्रतीत इति न स्वभावस्येव कार्यस्य लक्षणमुक्तम् ।

ननु त्रिरूपत्वादेकमेव लिङ्गमयुक्तम् । अथ प्रकारभेदाद्भेदः । एवं सति स्वभावहेतोरेकस्यानन्तप्रकारत्वात्त्रित्वमयुक्तमित्याह ।

अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ । एकः प्रतिषेधहेतुः ॥ १९ ॥

अत्र द्वाविति । अत्रेत्येषु त्रिषु हेतुषु मध्ये द्वौ हेतू वस्तुसाधनौ । विधेः साधनौ गमकौ । एकः प्रतिषेधस्य हेतुर्गमकः । प्रतिषेध इति चाभावो ऽभावव्यवहारश्चोक्तो द्रष्टव्यः । तदयमर्थो । हेतुः साध्यसिद्ध्यर्थत्वात्साध्याङ्गम् । साध्यं प्रधानम् । अतश्च साध्योपकरणस्य हेतोः प्रधानसाध्यभेदाद्भेदो । न स्वरूपभेदात् । साध्यश्च कश्चिद्विधिः कश्चित्प्रतिषेधः । विधिप्रतिषेधयोश्च परस्परपरिहारेणावस्थानात्तयोर्हेतू भिन्नौ । विधिरपि

कश्चिद्धेतोर्भिन्नः कश्चिदभिन्नः। भेदाभेदयोरन्योन्यत्यागेनात्मस्थितेर्भिन्नौ हेतू। ततः साध्यस्य परस्परविरोधाद्धेतवो भिन्ना न तु स्वत एवेति।

कस्मात्पुनस्त्रयाणां हेतुत्वं कस्माच्चान्येषामहेतुत्वमित्याशङ्क्य यथा त्रयाणामेव हेतुत्वमन्येषां चाहेतुत्वं तदुभयं दर्शयितुमाह।

स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थो ऽर्थं गमयेत्॥ २०॥

स्वभावप्रतिबन्ध इति। स्वभावेन प्रतिबन्धः स्वभावप्रतिबन्धः। साधनं कृतेति समासः। स्वभावप्रतिबद्धत्वं प्रतिबद्धस्वभावत्वमित्यर्थः। कारणे स्वभावे च साध्ये स्वभावेन प्रतिबन्धः कार्यस्वभावयोरविशिष्ट इत्येकेन समासेन द्वयोरपि संग्रहः। द्वितीयोऽर्थात्। यस्मात्स्वभावप्रतिबन्धे सति साधनार्थः साध्यार्थं गमयेत्तस्मात्त्रयाणां गमकत्वमन्येषामगमकत्वम्।

कस्मात्पुनः स्वभावप्रतिबन्ध एव सति गम्यगमकभावो नान्यथेत्याह।

तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात्॥ २१॥

तदप्रतिबद्धस्येति। तदिति स्वभाव उक्तः। तेन स्वभावेनाप्रतिबद्धस्तदप्रतिबद्धः। यो यत्र स्वभावेन न प्रतिबद्धस्तस्य तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावः। तस्याप्रतिबन्धविषयस्याव्यभिचारस्तदव्यभिचारस्तस्य नियमस्तदव्यभिचारनियमस्तस्याभावात्। अयमर्थः। न हि यो यत्र स्वभावेन न प्रतिबद्धः स तमप्रतिबन्धविषयमवश्यमेव न व्यभिचरतीति नास्ति तयोरव्यभिचारनियमः। अविनाभावनियमः। अव्यभिचारनियमाच्च गम्यगमकभावः। न हि योग्यतया प्रदीपवत्परोक्षार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमिष्टं लिङ्गम्। अपि त्वव्यभिचारित्वेन निश्चितम्। ततः स्वभावप्रतिबन्धे सत्यविनाभावनिश्चयः। ततो गम्यगमकभावः। तस्मात्स्वभावप्रतिबन्धे सत्यर्थो ऽर्थं गमयेन्नान्यथेति स्थितम्।

ननु च परायत्तस्य प्रतिबन्धो ऽपरायत्ते। तदिह साध्यसाधनयोः कस्य क्व प्रतिबन्ध इत्याह।

न च प्रतिबन्धः साध्ये ऽर्थे लिङ्गस्य ॥ २२ ॥

न चेति । न च स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य साध्ये ऽर्थे । लिङ्गं परायत्तत्वात्प्रतिबद्धम् । साध्यस्त्वर्थो ऽपरायत्तत्वात्प्रतिबन्धविषयो ' न प्रतिबद्ध इत्यर्थः । तत्रायमर्थः । तादात्म्याविशेषे ऽपि यत्प्रतिबद्धं तद्गमकं ' यत्प्रतिबन्धविषयस्तद्गम्यम् । यस्य च धर्मस्य यन्नियतः स्वभावः स तत्प्रतिबद्धो ' यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वाख्यो ऽनित्यत्वे । यस्य तु स चान्यश्च स्वभावः स प्रतिबन्धविषयो ' न तु प्रतिबद्धो ' यथानित्यत्वाख्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाख्ये । निश्चयापेक्षो हि गम्यगमकभावः । प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव चानित्यत्वस्वभावं निश्चितम् । अतस्तदेवानित्यत्वे प्रतिबद्धम् । तस्मान्नियतविषय एव गम्यगमकभावो ' नान्यथेति ।

कस्मात्पुनः स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्येत्याह ।

वस्तुतस्तादात्म्यात्तदुत्पत्तेश्च ॥ २३ ॥

वस्तुत इत्यादि । स साध्यो ऽर्थ आत्मा स्वभावो यस्य तत्तदात्मा । तस्य भावस्तादात्म्यं ' तस्माद्धेतोः । यतः साध्यस्वभावं साधनं तस्मात्तत्र स्वभावप्रतिबद्धमित्यर्थः । यदि साध्यस्वभावं साधनं साध्यसाधनयोरभेदात्प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुः स्यादित्याह वस्तुत इति । परमार्थसता रूपेणाभेदः तयोः । विकल्पविषयस्तु यत्समारोपितं रूपं तदपेक्षः साध्यसाधनभेदः । निश्चयापेक्ष एव हि गम्यगमकभावः । ततो निश्चयारूढरूपापेक्ष एव तयोर्भेदो युक्तो ' वास्तवस्त्वभेद इति । न केवलं तादात्म्यादपि तु ततः साध्यादर्थादुत्पत्तिर्लिङ्गस्य ' तदुत्पत्तेश्च साध्ये ऽर्थे स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य ।

कस्मान्निमित्तद्वयात्स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य नान्यस्मादित्याह ।

अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ॥ २४ ॥

अतत्स्वभावस्येति । स स्वभावो ऽस्य सो ऽयं तत्स्वभावः । न तत्स्वभावो ऽतत्स्वभावः । तस्मादुत्पत्तिरस्य सो ऽयं तदुत्पत्तिः । न तथातदुत्पत्तिः । यो यत्स्वभावो यदुत्प-

त्तिश्च न भवति तस्यातत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च, तत्रातत्स्वभावे ऽनुत्पादके चाप्रतिबद्धः स्वभावो ऽस्येति सो ऽयमप्रतिबद्धस्वभावः, तस्य भावो ऽप्रतिबद्धस्वभावत्वं, तस्मादप्रतिबद्धस्वभावत्वात् । यद्यतत्स्वभावे ऽनुत्पादके च कश्चित्प्रतिबद्धस्वभावो भवेद्, भवेदन्यतो ऽपि निमित्तात्स्वभावप्रतिबन्धः । प्रतिबद्धस्वभावत्वं हि स्वभावप्रतिबन्धो, न चान्यः कश्चिदायत्तस्वभावः । तस्मात्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव स्वभावप्रतिबन्धः ।

भवतु नाम तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव स्वभावप्रतिबन्धः, कार्यस्वभावयोरेव तु गमकत्वं कथमित्याह ।

ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ॥ २५ ॥

ते चेति । इतिस्तस्मादर्थे । यस्मात्स्वभावे कार्ये एव च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्थिते तन्निबन्धनश्च गम्यगमकभावस्तस्मात्ताभ्यामेव कार्यस्वभावाभ्यां वस्तुनो विधेः सिद्धिः ।

अथ प्रतिषेधसिद्धिरदृश्यानुपलम्भादपि कस्मान्नेष्टेत्याह ।

प्रतिषेधसिद्धिर्यथोक्ताया एवानुपलब्धेः ॥ २६ ॥

प्रतिषेधव्यवहारस्य सिद्धिर्यथोक्ता या दृश्यानुपलब्धिस्तत एव भवति यतस्तस्मादन्यतो नोक्ता ।

ततस्तावत्कस्माद्भवतीत्याह ।

सति वस्तुनि तस्या असम्भवात् ॥ २७ ॥

सति तस्मिन्प्रतिषेध्ये वस्तुनि यस्माद्दृश्यानुपलब्धिर्न संभवति तस्मादसंभवात्ततः प्रतिषेधसिद्धिः ।

अथ तत एव कस्मादित्याह ।

अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वात्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् ॥ २८ ॥

अन्यथा चेति । सति वस्तुनि तस्या अदृश्यानुपलब्धेः संभवादित्यन्यथाशब्दार्थः । एतस्मात्कारणान्नान्यस्या अनुपलब्धेः प्रतिषेधसिद्धिः । कुत एतत् । सत्यपि वस्तुनि तस्याः संभव इत्याह । अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्वित्यादि । इह प्रत्ययान्तरसाकल्यात्स्वभावविशेषाच्चोपलब्धिलक्षणप्राप्तो ऽर्थ उक्तः । द्वयोरेकैकस्याप्यभावे ऽनुपलब्धिलक्षणप्राप्तो ऽर्थ उच्यते । तदिहानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्विति प्रत्ययान्तरवैकल्यवन्त उक्ताः । देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्विति स्वभावविशेषविप्रकृष्टा उक्ताः । देशश्च कालश्च स्वभावश्च तैर्विप्रकृष्टा इति विग्रहः । तेष्वभावनिश्चयस्याभावात् । सत्यपि वस्तुनि तस्याभाव इष्टः । कस्मान्निश्चयाभाव इत्याह । तेषु प्रतिपत्तुरात्मनो यत्प्रत्यक्षं तस्य निवृत्तेः कारणान्निश्चयाभावः । यस्मादनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्वात्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावस्तस्मात्सत्यपि वस्तुन्यात्मप्रत्यक्षनिवृत्तिलक्षणाया अदृश्यानुपलब्धेः संभवः । ततो यथोक्ताया एव प्रतिषेधसिद्धिः ।

अथेयं दृश्यानुपलब्धिः कस्मिन्काले प्रमाणं किंस्वभावा किंव्यापारा चेत्याह ।

अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरभावव्यवहारसाधनी ॥ २९ ॥

अमूढेति । प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षो घटादिरर्थस्तस्य निवृत्तिरनुपलब्धिस्तदभावस्वभावेति यावत् । अत एवाभावो न साध्यः स्वभावानुपलब्धेः सिद्धत्वात् । अविद्यमानो ऽपि च घटादिरेकज्ञानसंसर्गिणि भूतले समग्रज्ञानसामग्रीको ज्ञायमानो दृश्यतया संभावितत्वात्प्रत्यक्ष उक्तः । अत एकज्ञानसंसर्गी दृश्यमानो ऽर्थस्तज्ज्ञानं च प्रत्यक्षनिवृत्तिरुच्यते । ततो हि दृश्यमानादर्थात्तद्बुद्धेश्च समग्रदर्शनसामग्रीकत्वेन प्रत्यक्षतया संभावितस्य निवृत्तिरवसीयते । तस्मादर्थज्ञान एव प्रत्यक्षस्य घटस्याभाव उच्यते । न तु निवृत्तिमात्रनि-

हाभावो' निवृत्तिमात्राद्दृश्यनिवृत्त्यनिश्चयात् । ननु च दृश्यनिवृत्तिरवसीयते दृश्यानुपलम्भात्। सत्यमेवैतत्। केवलमेकज्ञानसंसर्गिणि दृश्यमाने घटो यदि भवेद्दृश्य एव भवेदिति दृश्यः संभावितस्ततो दृश्यानुपलब्धिर्निश्चिता । दृश्यानुपलब्धिनिश्चयसामर्थ्यादेव च दृश्याभावो निश्चितः। यदि हि दृश्यस्तत्र भवेद्दृश्यानुपलम्भो न भवेत्। अतो दृश्यानुपलम्भनिश्चयाद्दृश्याभावः सामर्थ्यादवसितो' न तु व्यवहृत' इति दृश्यानुपलम्भेन व्यवहर्तव्यः। तस्माद्दर्थान्तरमेकज्ञानसंसर्गि दृश्यमानं तज्ज्ञानं च प्रत्यक्षनिवृत्तिनिश्चयहेतुत्वात्प्रत्यक्षनिवृत्तिरुक्तं द्रष्टव्यम्। यथा चैकज्ञानसंसर्गिणि प्रत्यक्षे घटस्य प्रत्यक्षत्वमारोपितमसतो ऽपि' तथा तस्मिन्नेकज्ञानसंसर्गिण्यतीते चामूढस्मृतिसंस्कारे वर्तमाने च घटस्य तद्रूपमारोपितमसत इति द्रष्टव्यम्। अनेन दृश्यानुपलब्धिः प्रत्यक्षघटनिवृत्तिस्वभावोक्ता। सा च सिद्धा। तेन न घटाभावः साध्यो' अपि त्वभावव्यवहार इत्युक्तम्।

अमूढो ऽभ्रष्टो दर्शनाहितः स्मृतिजननरूपः संस्कारो यस्मिन्घटादौ स तथोक्तः। तस्यातीतस्य प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्येति संबन्धः। वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्येति संबन्धः। अमूढस्मृतिसंस्कारग्रहणं तु न वर्तमानविशेषणं' यस्मादतीते घटविविक्तप्रदेशदर्शने स्मृतिसंस्कारो मूढो दृश्यघटानुपलम्भे दृश्ये च घटे मूढो भवति' वर्तमाने च घटरहितप्रदेशदर्शने न स्मृतिसंस्कारमोहः। अत एव न घटानुपलम्भे नापि घटे मोहः। तस्मान्न वर्तमाननिषेध्यविशेषणममूढस्मृतिसंस्कारग्रहणं' स्मृतिसंस्कारव्यभिचाराभावाद्वर्तमानस्यार्थस्य। अत एव वर्तमानस्य चेति चशब्दः कृतो' विशेषणरहितस्य वर्तमानस्य विशेषणवतातीतेन समुच्चयो यथा विज्ञायेतेति। तदयमर्थः। अतीतो ऽनुपलम्भः स्फुटं स्मर्यमाणः प्रमाणं' वर्तमानश्च। ततो नासीदिह घटो ऽनुपलब्धत्वान्नास्त्यनुपलभ्यमानत्वादिति शक्यं ज्ञातुम्। न तु न भविष्यत्यत्र घटो ऽनुपलप्स्यमानत्वादिति शक्यं ज्ञातुम्। अनागताया अनुपलब्धेः सत्त्वसंदेहादिति। कालविशेषो ऽनुपलब्धेर्व्याख्यातः।

व्यापारं दर्शयति। अभावस्य व्यवहारो नास्तीत्येवमाकारं ज्ञानं' शब्दश्चैवमाकारो' निःशङ्कं गमनागमनलक्षणा च प्रवृत्तिः कायिको ऽभावव्यवहारः। घटाभावे हि ज्ञाते निःशङ्कं गन्तुमागन्तुं च प्रवर्तते। तदेवमेतस्य त्रिविधस्याप्यभावव्यवहारस्य दृश्या-

नुपलब्धिः साधनी प्रवर्तिका । यद्यपि च नास्ति घट इति ज्ञानमनुपलब्धेरेव भवत्ययमत्र चाभावनिश्चयस्तथापि यस्मात्प्रत्यक्षेण केवलः प्रदेश उपलब्धस्तस्मादिह घटो नास्तीत्येवं च प्रत्यक्षव्यापारमनुसरत्यभावनिश्चयः । तस्मात्प्रत्यक्षस्य केवलप्रदेशग्रहणव्यापारानुसार्यभावनिश्चयः प्रत्यक्षकृतः । किं च । दृश्यानुपलम्भनिश्चयकारणसामर्थ्यादेव पूर्वोक्तया नीत्या प्रत्यक्षेणैवाभावो निश्चितः । केवलमदृष्टानामपि सत्त्वसंभवात् । सत्त्वशङ्कया न शक्नोत्यसत्त्वं व्यवहर्तुम् । अतो ऽनुपलम्भो ऽभावं व्यवहारयति । दृश्यो यतो ऽनुपलब्धस्तस्मान्नास्तीति । अतो दृश्यानुपलम्भो ऽभावज्ञानं कृतं प्रवर्तयति । न चकृतं करोतीत्यभावनिश्चयो ऽनुपलम्भात्प्रवृत्तो ऽपि प्रत्यक्षेण कृतो ऽनुपलम्भेन प्रवर्तित उक्त इत्यभावव्यवहारप्रवर्तिन्यनुपलब्धिः ।

कस्मात्पुनरतीते वर्तमाने चानुपलब्धिर्गमिकेत्याह ।

तस्या एवाभावनिश्चयात् ॥ ३० ॥

तस्या एव यथोक्तकालाया अनुपलब्धेरभावनिश्चयात् । अनागता ह्यनुपलब्धिः स्वयमेव संदिग्धस्वभावा । तस्या असिद्धाया नाभावनिश्चयो ऽपि त्वतीतवर्तमानाया इति ।

संप्रत्यनुपलब्धेः प्रकारभेदं दर्शयितुमाह ।

सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ॥ ३१ ॥

सा चैषानुपलब्धिरेकादश प्रकारा अस्या इत्येकादशप्रकारा । कुतः प्रकारभेदः । प्रयोगभेदात् । प्रयोगः प्रयुक्तिः शब्दस्याभिधानव्यापार उच्यते । शब्दो हि साक्षात्क्वाचिदर्थान्तराभिधायी क्वाचित्प्रतिषेधान्तराभिधायी । सर्वत्रैव तु दृश्यानुपलब्धिरशब्दोपात्तापि गम्यत इति वाचकव्यापारभेदादनुपलम्भप्रकारभेदो । न तु स्वरूपभेदादिति यावत् ।

प्रकारभेदानाह ।

स्वभावानुपलब्धिर्यथा । नात्र धूम । उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ॥ ३२ ॥

स्वभावेत्यादि । प्रतिषेध्यस्य यः स्वभावस्तस्यानुपलब्धिर्यथेति । अत्रेति धर्मी । न धूम इति साध्यम् । उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति हेतुः । अयं च हेतुः पूर्ववद्व्याख्येयः ॥

प्रतिषेध्यस्य यत्कार्यं तस्यानुपलब्धिरुदाह्रियते ।

कार्यानुपलब्धिर्यथा । नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति । धूमाभावात् ॥ ३३ ॥

यथेति । इहेति धर्मी । अप्रतिबद्धमनुपहतं धूमजननं प्रति सामर्थ्यं येषां तान्यप्रतिबद्धसामर्थ्यानि न सन्तीति साध्यम् । धूमाभावादिति हेतुः । कारणानि च नावश्यं कार्यवन्ति भवन्तीति कार्यादर्शनादप्रतिबद्धसामर्थ्यानामेवाभावः साध्यः । न त्वन्येषाम् । अप्रतिबद्धशक्तीनि चान्त्यक्षणभावीन्येवान्येषां प्रतिबन्धसंभवात् । कार्यानुपलब्धिश्च यत्र कारणमदृश्यं तत्र प्रयुज्यते । दृश्ये तु कारणे दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका । तत्र धवलगृहोपरिस्थितो गृहाङ्गणमपश्यन्नपि चतुर्षु पार्श्वेष्वङ्गणभित्तिपर्यन्तं पश्यति । भित्तिपर्यन्तसमं चालोकसंज्ञकमाकाशदेशं धूमविविक्तं पश्यति । तत्र धूमाभावनिश्चयाद्यद्देशस्थेन वह्निना जन्यमानो धूमस्तद्देशः स्यात् । तस्य च वह्नेरप्रतिबद्धसामर्थ्यस्याभावः प्रतिपत्तव्यः । तद्गृहाङ्गणदेशेन वह्निना जन्यमानो धूमस्तद्देशः स्यात् । तस्मात्तद्देशस्य वह्नेरभावः प्रतिपत्तव्यः । तद्गृहाङ्गणदेशं भित्तिपरिक्षितं भित्तिपर्यन्तपरिक्षिप्तेन चालोकात्मना धूमविविक्तेनाकाशदेशेन सह धर्मिणं करोति । तस्माद्दृश्यमानादृश्यमानाकाशदेशावयवः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षसमुदायो वह्न्यभावप्रतीतिसामर्थ्यायातो धर्मी । न दृश्यमान एव । इहेति तु प्रत्यक्षनिर्देशो दृश्यमानभागापेक्षः । न केवलमिहैव दृश्यादृश्यसमुदायो धर्मी । अपि त्वन्यत्रापि । शब्दस्य क्षणिकत्वे साध्ये कश्चिदेव शब्दः प्रत्यक्षोऽन्यस्तु परोक्षस्तद्वदिहापि । यथा चात्र

धर्मी साध्यप्रतिपत्त्यधिकरणभूतो दृश्यादृश्यावयवो दर्शितस्तद्वदन्येष्वपि प्रयोगेषु स्वयं प्रतिपत्तव्यः।

प्रतिषेध्यस्य व्याप्यस्य यो व्यापको धर्मस्तस्यानुपलब्धिरुदाह्रियते।

व्यापकानुपलब्धिर्यथा। नात्र शिंशपा। वृक्षाभावात्॥ ३४ ॥

यथेति। अत्र धर्मी। न शिंशपेति शिंशपाभावः साध्यः। वृक्षस्य व्यापकस्याभावादिति हेतुः। इयमप्यनुपलब्धिर्व्याप्यस्य शिंशपात्वस्यादृश्याभावे प्रयुज्यते। उपलब्धिलक्षणप्राप्ते तु व्याप्ये दृश्यानुपलब्धिर्गमिका। तत्र यदा पूर्वापरावुपश्लिष्टौ समुन्नतौ देशौ भवतस्तयोरेकस्तरुगहनोपेतो ऽपरश्चैकशिलाघटितो निर्वृक्षकः। द्रष्टापि तत्स्थान्वृक्षानपश्यन्नपि शिंशपादिभेदं न यो विवेचयति। तस्य वृक्षत्वं प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं शिंशपात्वम्। स हि निर्वृक्ष एकशिलाघटिते वृक्षाभावं दृश्यत्वाद्दृश्यानुपलम्भाद्व्यवस्यति। शिंशपात्वाभावं तु व्यापकस्य वृक्षत्वस्याभावादिति। तादृशे विषये ऽस्या अभावसाधनाय प्रयोगः।

प्रतिषेध्यस्य स्वभावेन विरुद्धस्योपलब्धिरुदाह्रियते।

स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा। नात्र शीतस्पर्शो। ऽग्नेरिति॥ ३५ ॥

यथेति। अत्रेति धर्मी। न शीतस्पर्श इति शीतस्पर्शप्रतिषेधः साध्यः। वह्नेरिति हेतुः। इयं चानुपलब्धिस्तत्र प्रयोक्तव्या यत्र शीतस्पर्शो ऽदृश्यः। दृश्ये दृश्यानुपलब्धिप्रयोगात्। तस्माद्यत्र वर्णविशेषाद्वह्निर्दृश्यः शीतस्पर्शो दूरस्थत्वात्सन्नप्यदृश्यस्तत्रास्याः प्रयोगः।

प्रतिषेध्येन यद्विरुद्धं तत्कार्यस्योपलब्धिर्गमिका।

विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा। नात्र शीतस्पर्शो। धूमादिति॥ ३६ ॥

यथेति। अत्रेति धर्मी। न शीतस्पर्श इति शीतस्पर्शाभावः साध्यः। धूमादिति हेतुः। यत्र शीतस्पर्शः सन्दृश्यः स्यात्तत्र दृश्यानुपलब्धिर्गमिका। यत्र विरुद्धो वह्निः

प्रत्यक्षस्तत्र विरुद्धोपलब्धिः । द्वयोरपि तु परोक्षत्वे विरुद्धकार्योपलब्धिः प्रयुज्यते । तत्र समस्तापवरकस्थं शीतं निवर्तयितुं समर्थस्याग्नेरनुमापकं यदा विशिष्टं धूमकलापं निर्यान्तमपवरकात्पश्यति, तदा विशिष्टाद्वह्नेरनुमिताच्छीतस्पर्शनिवृत्तिमनुमिमीते । इह दृश्यमानद्वारप्रदेशसन्निहितः सर्वापवरकाभ्यन्तरदेशो धर्मी साध्यप्रतिपत्त्यनुसरणात्पूर्ववद्द्रष्टव्यः ।

प्रतिषेध्यस्य यद्विरुद्धं तेन व्याप्तस्य धर्मान्तरस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या ।

विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा, न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशो, हेत्वन्तरापेक्षणात् ॥ ३७ ॥

यथेति । ध्रुवमवश्यं भवतीति ध्रुवभावी । नेति ध्रुवभावित्वनिषेधः साध्यः । विनाशो धर्मी । भूतस्यापि भावस्येति धर्मिविशेषणम् । भूतस्य जातस्यापि विनश्वरः स्वभावो नावश्यंभावी, किमुताजातस्येत्यपिशब्दार्थः । जननाद्धेतोरन्यो हेतुर्हेत्वन्तरं मुद्गरादि । तदपेक्षते विनश्वरः । तस्यापेक्षणादिति हेतुः । हेत्वन्तरापेक्षणं चाध्रुवभावित्वेन व्याप्तं, यथा वाससि रागस्य रञ्जनादिहेत्वन्तरापेक्षणमध्रुवभावित्वेन व्याप्तम् । ध्रुवभावित्वविरुद्धं चाध्रुवभावित्वम् । विनाशश्च विनश्वरस्वभावात्मा हेत्वन्तरापेक्ष इष्टः । ततो विरुद्धव्याप्तहेत्वन्तरापेक्षणदर्शनाद्ध्रुवभावित्वनिषेधः । इह ध्रुवभावित्वं नित्यत्वमध्रुवभावित्वं चानित्यत्वम् । नित्यत्वानित्यत्वयोश्च परस्परपरिहारेणावस्थानादेकत्र विरोधः । तथा च सति परस्परपरिहारवतोर्द्वयोर्यदेकं दृश्यते तत्र द्वितीयस्य तादात्म्यनिषेधः कार्यः । तादात्म्यनिषेधश्च दृश्यतयाभ्युपगतस्य संभवति, यत एवं तादात्म्यनिषेधः क्रियते, यद्ययं दृश्यमानो नित्यो भवेन्नित्यरूपो दृश्येत, न च नित्यरूपो दृश्यते, तस्मान्न नित्यः । एवं च प्रतिषेध्यस्य नित्यत्वस्य दृश्यमानात्मत्वमभ्युपगम्य प्रतिषेधः कृतो भवति । वस्तुनोऽप्यदृश्यस्य पिशाचादेर्यदि दृश्यघटात्मत्वनिषेधः क्रियते दृश्यात्मत्वमभ्युपगम्य कर्तव्यः । यद्ययं दृश्यमानः पिशाचात्मा भवेत्पिशाचो दृष्टो भवेत् । न च दृष्टस्तस्मान्न पिशाच इति । दृश्यात्मत्वाभ्युपगमपूर्वको दृश्यमाने घटादौ वस्तुनि वस्तुनोऽवस्तुनो वा दृश्यस्यादृश्यस्य च ता-

दात्म्यनिषेधः। तथा च सति यथा घटस्य दृश्यत्वमभ्युपगम्य प्रतिषेधो दृश्यानुपलम्भादेव तद्वत्सर्वस्य परस्परपरिहारवतो ऽन्यत्र दृश्यमाने निषेधो दृश्यानुपलम्भादेव। तथा चास्यैवंजातीयकस्य प्रयोगस्य स्वभावानुपलब्धावन्तर्भावः।

प्रतिषेध्यस्य यत्कार्यं तस्य यद्विरुद्धं तस्योपलब्धेरुदाहरणम्।

कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा ' नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति ' अग्नेरिति ॥ ३८ ॥

यथेति। इहेति धर्मी। अप्रतिबद्धं सामर्थ्यं येषां शीतकारणानां शीतजननं प्रति न तानि सन्तीति साध्यम्। वह्नेरिति हेतुः। यत्र शीतकारणान्यदृश्यानि शीतस्पर्शो ऽप्यदृश्यस्तत्रायं हेतुः प्रयोक्तव्यः। दृश्यत्वे तु शीतस्पर्शस्य तत्कारणानां वा कार्यानुपलब्धिर्दृश्यानुपलब्धिर्वा गमिका। तस्मादियमप्यभावसाधनी। ततो यस्मिन्देशे सदपि शीतकारणमदृश्यं शीतस्पर्शश्च दूरस्थत्वात्प्रतिपत्तुर्वह्निर्भास्वरवर्णत्वाद्दूरादपि दृश्यस्तत्रायं प्रयोगः।

प्रतिषेध्यस्य यद्व्यापकं तेन यद्विरुद्धं तस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या।

व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा ' नात्र तुषारस्पर्शो ' ऽग्नेरिति ॥ ३९ ॥

यथेति। अत्रेति धर्मी। तुषारस्पर्शो नेति साध्यम्। वह्नेरिति हेतुः। यत्र व्याप्यस्तुषारस्पर्शो व्यापकश्च शीतस्पर्शो न दृश्यस्तत्रायं हेतुः ' तयोर्दृश्यत्वे स्वभावस्य व्यापकस्य चानुपलब्धिर्यतः प्रयोक्तव्या। तथा सत्यभावसाधनोयम्। दूरवर्तिनश्च प्रतिपत्तुस्तुषारस्पर्शः शीतस्पर्शविशेषः। शीतमात्रं च परोक्षम्। वह्निस्तु रूपविशेषाद्दूरस्थो ऽपि प्रत्यक्षः। ततो वह्नेः शीतमात्राभावः। ततः शीतविशेषतुषारस्पर्शाभावनिश्चयः। शीतविशेषस्य शीतसामान्येन व्याप्तत्वादिति विशिष्टविषये ऽस्याः प्रयोगः।

प्रतिषेध्यस्य यत्कारणं तस्यानुपलब्धेरुदाहरणम्।

कारणानुपलब्धिर्यथा । नात्र धूमो ऽग्न्यभावात् ॥ ४० ॥

यथेति । अत्रेति धर्मी । न धूम इति साध्यम् । वह्न्यसत्त्वादिति हेतुः । यत्र कार्यं सदपि दृश्यं न भवति तत्रायं प्रयोगः । दृश्ये तु कार्ये दृश्यानुपलब्धिर्गमिका । ततो ऽयमप्यभावसाधनः । निष्कम्पायतसलिलपूरिते ह्रदे हेमन्तोचितबाष्पोद्गमे विरले संध्यातमसि सति सन्नपि तत्र धूमो न दृश्य इति कारणानुपलब्ध्या प्रतिषिध्यते । वह्निस्तु यदि तस्याम्भस उपरि प्लवमानो भवेज्ज्वलितरूपविशेषादेवोपलब्धो भवेत् । अज्वलितस्त्विन्धनमध्यनिविष्टो भवेत्तत्रापि दहनाधिकरणमिन्धनं प्रत्यक्षमिति स्वरूपेणाधाररूपेण वा दृश्य एव वह्निरिति तत्रास्याः प्रयोगः ।

प्रतिषेध्यस्य यत्कारणं तस्य यद्विरुद्धं तस्योपलब्धेरुदाहरणम् ।

कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नास्य रोमहर्षादिविशेषाः । संनिहितदहनविशेषत्वादिति ॥ ४१ ॥

यथेति । अस्येति धर्मी । रोम्णां हर्ष उद्गमः । स आदिर्येषां दन्तवीणादीनां शीतकृतानां ते विशिष्यन्ते तदन्येभ्यो भयश्रद्धादिकृतेभ्य इति रोमहर्षादिविशेषाः । ते न सन्तीति साध्यम् । दहन एव विशिष्यते तदन्यस्माद्दहनाच्छीतनिवर्तनसामर्थ्येनेति दहनविशेषः । कश्चिद्दहनः सन्नपि न शीतनिवर्तनक्षमो यथा प्रदीपः । तादृशनिवृत्तये विशेषग्रहणम् । संनिहितो दहनविशेषो यस्य स तथोक्तः । तस्य भावः । तस्मादिति हेतुः । यत्र शीतस्पर्शः सन्नप्यदृश्यो रोमहर्षादिविशेषाश्चादृश्यास्तत्रायं प्रयोगः । रोमहर्षादिविशेषस्य दृश्यत्वे दृश्यानुपलब्धिः प्रयोक्तव्या । शीतस्पर्शस्य दृश्यत्वे कारणानुपलब्धिः । तस्मादभावसाधनो ऽयम् । रूपविशेषाद्धि दूराद्दहनं पश्यति । शीतस्पर्शस्त्वदृश्यो रोमहर्षादिविशेषाश्च । तेषां कारणविरुद्धोपलब्ध्याभावः प्रतिपाद्यत इति । तत्रास्याः प्रयोगः ।

प्रतिषेध्यस्य यत्कारणं तस्य यद्विरुद्धं तस्य यत्कार्यं तस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या ।

कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा । न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशो । धूमादिति ॥ ४२ ॥

यथेति । अयं देश इति धर्मी । योगो युक्तं । रोमहर्षादिविशेषैर्युक्तं रोमहर्षादिविशेषयुक्तम् । तस्य संबन्धी पुरुषो रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषः । तद्वान्न भवतीति साध्यम् । धूमादिति हेतुः । रोमहर्षादिविशेषस्य प्रत्यक्षत्वे दृश्यानुपलब्धिः । कारणस्य शीतस्पर्शस्य प्रत्यक्षत्वे कारणानुपलब्धिः । वह्नेस्तु प्रत्यक्षत्वे कारणविरुद्धोपलब्धिः प्रयोक्तव्या । त्रयाणामप्यदृश्यत्वे ऽयं प्रयोगः । तस्मादभावसाधनो ऽयम् । तत्र दूरस्थस्य प्रतिपत्तुर्दहनशीतस्पर्शरोमहर्षादिविशेषा अप्रत्यक्षाः सन्तो ऽपि । धूमस्तु प्रत्यक्षो यत्र । तत्रैतत्प्रमाणम् । धूमस्तु यादृशस्तस्मिन्देशे स्थितं शीतं निवर्तयितुं समर्थस्य वह्नेरनुमापकः स इह ग्राह्यः । धूममात्रेण तु वह्निमात्रे ऽनुमिते ऽपि न शीतस्पर्शनिवृत्तिर्नापि रोमहर्षादिविशेषनिवृत्तिरवसातुं शक्येति न धूममात्रं हेतुरिति द्रष्टव्यमिति ।

यद्येकः प्रतिषेधहेतुरुक्तः कथमेकादशाभावहेतव इत्याह ।

इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्ति ॥ ४३ ॥

इम इत्यादि । इमे ऽनुपलब्धिप्रयोगाः । इदमानन्तरप्रयोगान्ता निर्दिष्टाः । तत्र कियतामपि ग्रहणे प्रसक्त आह । कार्यानुपलब्ध्यादय इति । कार्यानुपलब्ध्यादीनामपि त्रयाणां चतुर्णां वा ग्रहणे प्रसक्ते सत्याह । दशेति । दशानामप्युदाहृतमात्राणां ग्रहणप्रसङ्गे सत्याह । सर्व इति । एतदुक्तं भवति । अप्रयुक्ता अपि प्रयुक्तोदाहरणसदृशाश्च सर्व एवेति दशग्रहणानन्तरेण सर्वग्रहणे क्रियमाणे प्रयुक्तोदाहरणकार्त्स्न्यं गम्यते । दशग्रहणात्तूदाहरणकार्त्स्न्ये ऽवगते सर्वग्रहणमतिरिच्यमानमनुदाहृततत्सदृशकार्त्स्न्यावगतये ज्ञातम् । ते स्वभावानुपलब्धौ संग्रहं तादात्म्येन गच्छन्ति । स्वभावानुपलब्धिस्वभावा इत्यर्थः ।

ननु च स्वभावानुपलब्धिप्रयोगाद्भिद्यन्ते कार्यानुपलब्ध्यादयः, तत्कथमन्तर्भवन्तीत्याह ।

पारंपर्येणार्थान्तरविधिप्रतिषेधाभ्यां प्रयोगभेदे ऽपि ॥ ४४ ॥

प्रयोगभेदे ऽपि, प्रयोगस्य शब्दव्यापारस्य भेदे ऽपि, अन्तर्भवन्ति। कथं प्रयोगभेद इत्याह । अर्थान्तरविधीत्यादि । प्रतिषेध्यादर्थादर्थान्तरस्य विधिरुपलब्धिः स्वभावविरुद्धाद्युपलब्धिप्रयोगेषु । प्रतिषेधः कार्यानुपलब्ध्यादिप्रयोगेषु । अर्थान्तरविधिनार्थान्तरप्रतिषेधेन च प्रयोगा भिद्यन्ते । यदि प्रयोगान्तरेष्वर्थान्तरविधिप्रतिषेधौ कथं तर्ह्यन्तर्भवन्तीत्याह । पारंपर्येणेति । प्रणालिकयेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । न साक्षादेते प्रयोगा दृश्यानुपलब्धिमभिदधति, दृश्यानुपलब्ध्यव्यभिचारिणं त्वर्थान्तरस्य विधिं निषेधं वाभिदधति । ततः प्रणालिकयामीषां स्वभावानुपलब्धौ संग्रहो, न साक्षादिति ।

यदि प्रयोगभेदेन भेदः परार्थानुमाने वक्तव्य एषः। शब्दभेदो हि प्रयोगभेदः। शब्दश्च परार्थानुमानमित्याशङ्क्याह ।

प्रयोगदर्शनाभ्यासात्स्वयमप्येवं व्यवच्छेदप्रतीतिर्भवतीति स्वार्थे ऽप्यनुमाने ऽस्याः प्रयोगनिर्देशः ॥ ४५ ॥

प्रयोगदर्शनेत्यादि । प्रयोगाणां शास्त्रघटितानां दर्शनमुपलम्भः । तस्याभ्यासः पुनःपुनरावर्तनम् । तस्मान्निमित्तात् । स्वयमपीति प्रतिपत्तुरात्मनो ऽपि । एवमित्यनन्तरोक्तेन क्रमेण । व्यवच्छेदस्य प्रतिषेधस्य प्रतीतिर्भवतीति । इतिशब्दस्तस्मादर्थे । तदयमर्थः । यस्मात्स्वयमप्येवमनेनोपायेन प्रतिपद्यते प्रयोगाभ्यासात्, तस्मात्स्वप्रतिपत्तावप्युपयुज्यमानस्यास्य प्रयोगभेदस्य स्वार्थानुमाने निर्देशः । यत्पुनः परप्रतिपत्तावेवोपयुज्यते तत्परार्थानुमान एव वक्तव्यमिति ।

ननु च कार्यानुपलब्ध्यादिषु कारणादीनामदृश्यानामेव प्रतिषेधो, दृश्यनिषेधे स्वभावानुपलम्भप्रयोगप्रसङ्गात् । तथा च सति न तेषां दृश्यानुपलब्धेर्निषेधः, तत्कथमेषां प्रयोगाणां दृश्यानुपलब्धावन्तर्भाव इत्याह ।

सर्वत्र चास्यामभावव्यवहारसाधन्यामनुपलब्धौ येषां स्वभावविरुद्धादीनामुपलब्ध्या कारणादीनामनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्तस्तेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानामेवोपलब्धिरनुपलब्धिश्च वेदितव्या ॥ ४६ ॥

सर्वत्र चेत्यादि । अभावश्च तस्य च व्यवहारो ऽभावव्यवहारः । स्वभावानुपलब्ध्याऽभावव्यवहारः साध्यः । शिष्टस्वभावः । तयोः साधन्यामनुपलब्धौ । सर्वत्र चेति चशब्दो ऽपिशब्दस्यार्थे । यस्मात्सर्वत्रानुपलब्धौ येषां प्रतिषेध उक्तस्तेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानां दृश्यानामेव स प्रतिषेधस्तस्माद्दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः । कुत एतद्दृश्यानामेवेत्याह । स्वभावेत्यादि । अत्रापि चकारो हेत्वर्थः । यस्मात्स्वभावविरुद्ध आदिर्येषां तेषामुपलब्ध्या कारणमादिर्येषां तेषामनुपलब्ध्या प्रतिषेध उक्तस्तस्माद्दृश्यानामेव प्रतिषेध इत्यर्थः । यदि नाम स्वभावविरुद्धाद्युपलब्ध्या कारणाद्यनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्तस्तथापि कथं दृश्यानामेव प्रतिषेध इत्याह । उपलब्धिरित्यादि । अत्रापि चकारो हेत्वर्थः । यस्माद्ये विरोधिनो व्याप्यव्यापकभूताः कार्यकारणभूताश्च ज्ञातास्तेषामवश्यमेवोपलब्धिरुपलब्धिपूर्वा चानुपलब्धिर्वेदितव्या । उपलब्ध्यनुपलब्धी च द्वे येषां स्तस्ते दृश्या एव । तस्मात्स्वभावविरुद्धाद्युपलब्ध्या कारणाद्यनुपलब्ध्या चोपलब्ध्यनुपलब्धिमतां विरुद्धादीनां प्रतिषेधः क्रियमाणो दृश्यानामेव कृतो द्रष्टव्यः । बहुषु चोद्येषु प्रक्रान्तेषु परिहारसमुच्चयार्थश्चकारो हेत्वर्थो भवति । यस्मादिदं चेदं च समाधानमस्ति तस्मात्तच्चोद्यमयुक्तमिति चकारार्थः ।

कस्मात्पुनः प्रतिषेध्यानां विरुद्धादीनामुपलब्ध्यनुपलब्धी वेदितव्ये इत्याह ।

अन्येषां विरोधकार्यकारणभावासिद्धेः ॥ ४७ ॥

अन्येषामिति । उपलब्ध्यनुपलब्धिमद्भ्यो ऽन्ये ऽनुपलब्धा एव ये तेषां विरोधश्च कार्यकारणभावश्च केनचित्सहभावश्च व्याप्यस्य व्यापकस्याभावे न सिध्यति यस्मात्ततो विरोधिकार्यकारणभावाभावासिद्धेः कारणाद्युपलब्ध्यनुपलब्धिमन्त एव विरुद्धादयो नि-

षेध्याः । उभयवन्तश्च दृश्या एव । तस्माद्दृश्यानामेव प्रतिषेधः । तदयमर्थः । विरोधः कार्यकारणभावश्च व्यापकाभावे व्याप्याभावश्च दृश्यानुपलब्धेरेवेति । एकसंनिधावपराभावप्रतीतौ ज्ञातो विरोधः । कारणाभिमताभावे च कार्याभिमताभावप्रत्यये ऽवसितः कार्यकारणभावः । व्यापकाभिमताभावे च व्याप्याभावे निश्चिते निश्चितो व्याप्यव्यापकभावः । तत्र व्याप्यव्यापकभावप्रतीतेर्निमित्तमभावः प्रतिपत्तव्यः । इह गृहीते वृक्षाभावे हि शिंशपात्वाभावप्रतीतौ प्रतीतो व्याप्यव्यापकभावः । अभावप्रतिपत्तिश्च सर्वत्र दृश्यानुपलब्धेरेव । तस्माद्विरोधं कार्यकारणभावं व्याप्यव्यापकभावं च स्मरता विरोधकार्यकारणभावव्याप्यव्यापकभावविषयाभावप्रतिपत्तिनिबन्धनं दृश्यानुपलब्धिः स्मर्तव्या । दृश्यानुपलब्ध्यस्मरणे विरोधादीनामस्मरणम् । तथा च सति न विरुद्धादिविधिप्रतिषेधाभ्यामितराभावप्रतीतिः स्यात् । विरोधादिग्रहणकालभाविन्यां च दृश्यानुपलब्धाववश्यस्मर्तव्यायां तत एवाभावप्रतीतिः । तत्र यद्यपि संप्रति नास्ति दृश्यानुपलब्धिर्विरोधादिग्रहणकाले त्वासीत् । या दृश्यानुपलब्धिः संप्रति स्मर्यमाणा सैवाभावप्रतिपत्तिनिबन्धनम् । ततः संप्रति नास्ति दृश्योपलब्धिरित्यभावसाधनत्वेन दृश्यानुपलब्धिप्रयोगाद्भिद्यन्ते कार्यानुपलब्ध्यादिप्रयोगाः । विरुद्धविधिना कारणादिनिषेधेन च यतो दृश्यानुपलब्धिराक्षिप्ता ततो दृश्यानुपलब्धेरेव कालान्तरवृत्तायाः स्मृतिविषयभूताया अभावप्रतिपत्तिः । अमीषां च प्रयोगाणां दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः । तदनेन सर्वेषां दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावो दशानामनुपलब्धिप्रयोगाणां पारंपर्येण दर्शित इति वेदितव्यम् ।

उक्ता दृश्यानुपलब्धिरभावे ऽभावव्यवहारे साध्ये प्रमाणम् । अदृश्यानुपलब्धिः किंस्वभावा किंव्यापारा चेत्याह ।

विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः ॥ ४८ ॥

विप्रकृष्टेत्यादि । विप्रकृष्टस्त्रिभिर्देशकालस्वभावविप्रकर्षैर्यस्या विषयः सा विप्रकृष्टविषयेति संशयहेतुः । किंस्वभावा सेत्याह । प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिर्लक्षणं स्वभावो यस्याः सा प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा । न ज्ञानज्ञेयस्वभावेति यावत् ।

ननु च प्रमाणात्प्रमेयसत्ताव्यवस्था । ततः प्रमाणाभावात्प्रमेयाभावप्रतिपत्तिर्युक्तेत्याह ।

प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेरिति ॥ ३९ ॥

प्रमाणनिवृत्तावपीत्यादि । कारणं व्यापकं च निवर्तमानं कार्यं व्याप्यं च निवर्तयेत् । न च प्रमाणं प्रमेयस्य कारणं नापि व्यापकम् । अतः प्रमाणयोर्निवृत्तावप्यर्थस्य प्रमेयस्य निवृत्तिर्न सिध्यति । ततो ऽसिद्धेः संशयहेतुरदृश्यानुपलब्धिः । न निश्चयहेतुः । यत्पुनः प्रमाणसत्तया प्रमेयसत्ता सिध्यति तद्युक्तम् । प्रमेयकार्यं हि प्रमाणम् । न च कारणमन्तरेण कार्यमस्ति । न तु कारणान्यवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति । तस्मात्प्रमाणात्प्रमेयसत्ता व्यवस्थाप्या । न प्रमाणाभावात्प्रमेयाभावव्यवस्थेति ॥

इति न्यायबिन्दुप्रकरणे द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

इति न्यायबिन्दुटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ।

अथ परार्थानुमानतृतीयपरिच्छेदः ।

स्वार्थपरार्थानुमानयोः स्वार्थं व्याख्याय परार्थं व्याख्यातुकाम आह ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम् ॥ १ ॥

त्रिरूपलिङ्गाख्यानमिति । त्रीणि रूपाण्यन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मत्वसंज्ञकानि यस्य तत्त्रिरूपम् । त्रिरूपं च तल्लिङ्गं च तस्याख्यानम् । आख्यायते प्रकाश्यते ऽनेन त्रिरूपलिङ्गमित्याख्यानम् । किं पुनस्तत् । वचनम् । वचनेन हि त्रिरूपं लिङ्गमाख्यायते परस्मायिति परार्थम् ।

ननु च सम्यग्ज्ञानात्मकमनुमानमुक्तम् । तत्किमर्थं संप्रति वचनात्मकमनुमानमुच्यत इत्याह ।

कारणे कार्योपचारात् ॥ २ ॥

कारणे कार्योपचारादिति । त्रिरूपलिङ्गाभिधानात्त्रिरूपलिङ्गस्मृतिरुत्पद्यते । स्मृतेश्चानुमानम् । तस्यानुमानस्य परंपरया त्रिरूपलिङ्गाभिधानं कारणम् । तस्मिन्कारणे वचने कार्यस्यानुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते । ततः समारोपात्कारणं वचनमनुमानशब्देनोच्यते । औपचारिकं वचनमनुमानं न मुख्यमित्यर्थः । न च यावत्किंचिदुपचारादनुमानशब्देन वक्तुं शक्यं तावत्सर्वं व्याख्येयम् । किं त्वनुमानं व्याख्यातुकामेनानुमानस्वरूपस्य व्याख्येयत्वान्निमित्तं व्याख्येयम् । निमित्तं च त्रिरूपं लिङ्गम् । तच्च स्वयं वा प्रतीतमनु-

मानस्य निमित्तं भवति परेण वा प्रतिपादितम् । तस्माल्लिङ्गस्य स्वरूपं व्याख्येयं तत्प्रतिपादकश्च शब्दः । तत्र स्वरूपं स्वार्थानुमाने व्याख्यातं प्रतिपादकः शब्द इह व्याख्येयः । ततः प्रतिपादकं शब्दमवश्यं वक्तव्यं दर्शयन्ननुमानशब्देनोक्तवानाचार्य इति परमार्थः ।

परार्थानुमानस्य प्रकारभेदं दर्शयितुमाह ।

तद्द्विविधम् ॥ ३ ॥

तद्द्विविधमिति । तदिति परार्थानुमानम् । द्वौ विधौ प्रकारौ यस्य तद्द्विविधम् । कुतो द्विविधमित्याह ।

प्रयोगभेदात् ॥ ४ ॥

प्रयोगस्य शब्दव्यापारस्य भेदात् । प्रयुक्तिः प्रयोगोऽर्थाभिधानम् । शब्दस्यार्थाभिधानव्यापारभेदाद्द्विविधमनुमानम् ।

तदेवाभिधानव्यापारनिबन्धनं द्वैविध्यं दर्शयितुमाह ।

साधर्म्यवद्वैधर्म्यवच्चेति ॥ ५ ॥

साधर्म्यवद्वैधर्म्यवच्चेति । समानो धर्मो यस्य सोऽयं सधर्मा । तस्य भावः साधर्म्यम् । विसदृशो धर्मोऽस्य विधर्मा । विधर्मणो भावो वैधर्म्यम् । दृष्टान्तधर्मिणा सह साध्यधर्मिणः सादृश्यं हेतुकृतं साधर्म्यमुच्यते । असादृश्यं च हेतुकृतं वैधर्म्यमुच्यते । तत्र यस्य साधनवाक्यस्य साधर्म्यमभिधेयं तत्साधर्म्यवत् । यथा यत्कृतकं तदनित्यं यथा घटः तथा च कृतकः शब्द इत्यत्र कृतकत्वकृतं दृष्टान्तसाध्यधर्मिणोः सादृश्यमभिधेयम् । यस्य तु वैधर्म्यमभिधेयं तद्वैधर्म्यवत् । यथा नित्यं तदकृतकं दृष्टं यथाकाशं शब्दस्तु कृतक इति कृतकत्वाकृतकत्वकृतं शब्दाकाशयोः साध्यदृष्टान्तधर्मिणोरसादृश्यमिहाभिधेयम् ।

यद्यनयोः प्रयोगयोरभिधेयं भिन्नं कथं तर्हि त्रिरूपं लिङ्गमभिन्नं प्रकाश्यमित्याह ।

नानयोरर्थतः कश्चिद्भेदः ॥ ६ ॥

नानयोरर्थत इति। अर्थः प्रयोजनं प्रकाशयितव्यं वस्तु यदुद्दिश्यानन्तरे प्रयुज्येते। ततः प्रयोजनादनयोर्न भेदः कश्चित्। त्रिरूपं हि लिङ्गं प्रकाशयितव्यम्। तदुद्दिश्य द्वे अप्येते प्रयुज्येते। द्वाभ्यामपि त्रिरूपं लिङ्गं प्रकाश्यत एव। ततः प्रकाशयितव्यं प्रयोजनमनयोरभिन्नम्। तथा च न ततो भेदः कश्चित्॥

अभिधेयभेदोऽपि तर्हि न स्यादित्याह।

अन्यत्र प्रयोगभेदात् ॥ ७ ॥

अन्यत्र प्रयोगभेदादिति। प्रयोगो ऽभिधानं वाचकत्वम्। वाचकत्वभेदादन्यो भेदः प्रयोजनकृतो नास्तीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति। अन्यदभिधेयमन्यत्प्रकाश्यं प्रयोजनम्। तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं भिद्यते। प्रकाश्यं त्वभिन्नम्। अन्वये हि कथिते वक्ष्यमाणेन न्यायेन व्यतिरेकगतिर्भवति। व्यतिरेके चान्वयगतिः। ततस्त्रिरूपं लिङ्गं प्रकाश्यमभिन्नम्। न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र सामर्थ्यगम्यो ऽप्यर्थो भिद्यते। यस्मात्पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते। पीनो देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते। इत्यनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदेऽपि गम्यमानमेकमेव। तद्वदिहाभिधेयभेदेऽपि गम्यमानं वस्त्वेकमेव।

तत्र साधर्म्यवत् ॥ ८ ॥

तत्रेति। तयोः साधर्म्यवैधर्म्यवतोरनुमानयोः साधर्म्यवत्तावदुदाहरन्ननुपलब्धिमाह।

यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सो ऽसद्व्यवहारविषयः सिद्धः। यथान्यः कश्चिद्दृष्टः शशविषाणादिः। नोपलभ्यते च क्वचित्प्रदेशविशेष उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इति ॥ ९ ॥

यदित्यादिना। यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं यद्दृश्यं सन्नोपलभ्यत इति। अनेन दृश्यानुपलम्भो ऽनूद्यते। सो ऽसद्व्यवहारस्य विषयः सिद्धः। तदसदिति व्यवहर्तव्यमित्यर्थः।

अनेनासद्व्यवहारयोग्यत्वस्य विधिः कृतः । ततश्चासद्व्यवहारस्य योग्यत्वे दृश्यानुपलम्भो नियतः कथितः । दृश्यमनुपलब्धमसद्व्यवहारयोग्यमेवेत्यर्थः । साधनस्य च साध्ये ऽर्थे नियतत्वकथनं व्याप्तिकथनम् । यथोक्तम् । व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य च तत्रैव भाव इति । व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य विषयो दृष्टान्तः । तमेव दर्शयितुमाह । यथान्य इति । साध्यधर्मिणो ऽन्यो दृष्टान्त इत्यर्थः । दृष्ट इति प्रमाणेन निश्चितः । शशविषाणं हि न चक्षुषा विषयीकृतम् । अपि तु प्रमाणेन दृश्यानुपलम्भेनासद्व्यवहारयोग्यं विज्ञातम् । शशविषाणमादिर्यस्यासद्व्यवहारविषयस्य स तथोक्तः । शशविषाणादौ हि दृश्यानुपलम्भमात्रनिमित्तो ऽसद्व्यवहारः प्रमाणेन सिद्धः । तत एव प्रमाणादनेन वाक्येनाभिधीयमाना व्याप्तिर्ज्ञातव्या । संप्रति व्याप्तिं कथयित्वा दृश्यानुपलम्भस्य पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमाह । नोपलभ्यते चेति । प्रदेश एकदेशः पृथिव्याः । स एव विशिष्यते ऽन्यस्मादिति विशेषः । एकः प्रदेशविशेष इत्येकस्मिन्प्रदेशे । क्वचिदिति प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षे । एकोऽपि प्रदेशः स एवाभावव्यवहाराधिकरणं यः प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षो नान्यः । उपलब्धिलक्षणप्राप्त इति दृश्यः । यथा चासतोऽपि घटस्य समारोपितमुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं तथा व्याख्यातम् ।

स्वभावहेतोः साधर्म्यवन्तं प्रयोगं दर्शयितुमाह ।

तथा स्वभावहेतोः प्रयोगः ॥ १० ॥

तथेति । यथानुपलब्धेस्तथा स्वभावहेतोः साधर्म्यवान्प्रयोग इत्यर्थः ।

यत्सत्तत्सर्वमनित्यं । यथा घटादिरिति । शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः ॥ ११ ॥

यत्सदिति सत्त्वमनूद्य तत्सर्वमनित्यमित्यनित्यत्वं विधीयते । सर्वग्रहणं च नियमार्थम् । सर्वमनित्यं न किंचिन्नानित्यं यत्सत्तदनित्यमेव । अनित्यत्वादन्यत्र नित्यत्वे सत्त्वं नास्तीत्येवं सत्त्वमनित्यत्वे साध्ये नियतं ख्यापितं भवति । तथा च सति व्याप्तिप्रदर्श-

नत्वाक्यमिदम् । यथा घटादिरिति । व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य विषयकथनमेतत् । शुद्धस्येति निर्विशेषणस्य स्वभावस्य प्रयोगः ।

सविशेषणं दर्शयितुमाह ।

यदुत्पत्तिमत्तदनित्यमिति स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः ॥ १८ ॥

यदुत्पत्तिमदिति । उत्पत्तिः स्वरूपलाभो यस्यास्ति तदुत्पत्तिमत् । उत्पत्तिमत्त्वमनूद्य तदनित्यमित्यनित्यत्वविधिः । तथा च सत्युत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वे नियतमाख्यातम् । स्वभावभूतः स्वभावात्मको धर्मः । तस्य भेदेन भेदं हेतूकृत्य प्रयोगः । अनुत्पन्नेभ्यो हि व्यावृत्तिमाश्रित्योत्पन्नो भाव उच्यते । सैव व्यावृत्तिर्यदा व्यावृत्त्यन्तरनिरपेक्षा वक्तुमिष्यते तदा व्यतिरेकिणीव निर्दिश्यते । भावस्योत्पत्तिरिति । तथा च व्यतिरिक्तयेवोत्पत्त्या विशिष्टं वस्तूत्पत्तिमदुक्तम् । तेन स्वभावभूतेन धर्मेण कल्पितभेदेन विशिष्टः स्वभावः प्रयुक्तो द्रष्टव्यः ।

यत्कृतकं तदनित्यमित्युपाधिभेदेन ॥ १९ ॥

यत्कृतकमिति । कृतकत्वमनूद्यानित्यत्वं विधीयत इति । अनित्यत्वे नियतं कृतकत्वमुक्तम् । अतो व्याप्तिरनित्यत्वेन कृतकत्वस्य दर्शिता । उपाधिभेदेन स्वभावस्य प्रयोग इति संबन्धः । उपाधिर्विशेषणम् । तस्य भेदेन भिन्नेनोपाधिना विशिष्टः स्वभावः प्रयुक्त इत्यर्थः । इह कदाचिच्छुद्ध एवार्थ उच्यते । कदाचिद्व्यतिरिक्तेन विशेषणेन विशिष्टः । कदाचिद्व्यतिरिक्तेन । देवदत्त इति शुद्धः । लम्बकर्ण इत्यभिन्नकर्णद्वयविशिष्टः । चित्रगुरिति व्यतिरिक्तचित्रगवीविशिष्टः । तद्वत्सत्त्वं शुद्धं । उत्पत्तिमत्त्वमव्यतिरिक्तविशेषणं । कृतकत्वं व्यतिरिक्तविशेषणम् ।

ननु च चित्रगुशब्दे व्यतिरिक्तस्य विशेषणस्य वाचकश्चित्रशब्दो गोशब्दश्चास्ति । कृतकशब्दे तु निर्विशेषणवाचिनः शब्दस्य प्रयोगोस्तीत्याशङ्क्याह ।

अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ॥ १४ ॥

अपेक्षितेति । परेषां कारणानां व्यापारः स्वभावस्य निष्पत्तौ निष्पत्त्यर्थमपेक्षितः परव्यापारो येन स तथोक्तः । हीति यस्मादर्थे । यस्मादपेक्षितपरव्यापारः कृतक उच्यते तस्माद्व्यतिरिक्तेन विशेषणेन विशिष्टः स्वभाव उच्यते । यद्यपि व्यतिरिक्तं विशेषणपदं न प्रयुक्तं तथापि कृतकशब्देनैव व्यतिरिक्तं विशेषणपदमन्तर्भावितम् । अत एव संज्ञाप्रकारोऽयं कृतकशब्दो, यस्मात्संज्ञायामयं कन्प्रत्ययो विहितः । यत्र च विशेषणमन्तर्भाव्यते तत्र विशेषणपदं न प्रयुज्यते ।

क्वचित्प्रतीयमानं विशेषणं, यथा कृत इत्युक्ते हेतुभिरित्येतत्प्रतीयते । तत्र च हेतुशब्दः प्रयुज्यते, कदाचिन्न वा प्रयुज्यते ।

एवं प्रत्ययभेदभेदित्वादयो द्रष्टव्याः ॥ १५ ॥

प्रयुज्यमानस्वशब्दश्च यथा प्रत्ययभेदभेदिशब्दे प्रत्ययभेदः । यथा च कृतकशब्दो भिन्नविशेषणस्वभावाभिधाय्येवं प्रत्ययभेदभेदित्वमादिर्येषां प्रयत्नानन्तरीयकत्वादीनां तेऽपि स्वभावहेतोः प्रयोगा भिन्नविशेषणस्वभावाभिधायिनो द्रष्टव्याः । प्रत्ययानां कारणानां भेदो विशेषस्तेन प्रत्ययभेदेन भेत्तुं शीलं यस्य स प्रत्ययभेदभेदी शब्दस्तस्य भावः प्रत्ययभेदभेदित्वम् । ततः प्रत्ययभेदभेदित्वाच्छब्दस्य कृतकत्वं साध्यते । प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यत्वं साध्यते । तत्र प्रत्ययभेदशब्दो व्यतिरिक्तविशेषणाभिधायी प्रत्ययभेदभेदिशब्दे प्रयुक्तः । प्रयत्नानन्तरीयकशब्दे च प्रयत्नशब्दः । तदेवं त्रिविधः स्वभावहेतुप्रयोगो दर्शितः । शुद्धोऽव्यतिरिक्तविशेषणो व्यतिरिक्तविशेषणश्च । एवमर्थं चैतदाख्यातं, वाचकभेदान्मा भूत्कस्यचित्स्वभावहेतावपि प्रयुक्ते व्यामोह इति ।

सन्नोत्पत्तिमान्कृतको वा शब्द इति पक्षधर्मोपदर्शनम् ॥ १६ ॥

अथ किमिति स्वभावहेतवः सिद्धसंबन्धे स्वभावे साध्ये प्रयोक्तव्या आहोस्विदसिद्धसंबन्ध इत्याशङ्क्य सिद्धसंबन्धे प्रयोक्तव्या इति दर्शयितुमाह ।

सर्व एते साधनधर्मा यथास्वं प्रमाणैः सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्ध एव साध्यधर्मे ऽवगन्तव्याः ॥ १७ ॥

सर्व एत इति । गमकत्वात्साधनानि । पराश्रितत्वाच्च धर्माः । साधनधर्मा एव साधनधर्ममात्रम् । मात्रशब्देनाधिकस्यापेक्षणीयस्य निरासः । तस्यानुबन्धो ऽनुगमनमन्वयः । सिद्धः साधनधर्ममात्रानुबन्धो यस्य स तथोक्तः । केन सिद्ध इत्याह । यथास्वं प्रमाणैरिति । यस्य साध्यधर्मस्य यदात्मीयं प्रमाणं तेनैव प्रमाणेन सिद्ध इत्यर्थः । स्वभावहेतूनां च बहुभेदत्वात्संबन्धसाधनान्यपि प्रमाणानि बहूनीति प्रमाणैरिति बहुवचननिर्देशः । गमयितव्यत्वात्साध्यः पराश्रितत्वाच्च धर्मः साध्यधर्मः । तदयं परमार्थः । न हेतुः प्रदीपवद्योग्यतया गमको ऽपि तु सान्तरीयकतया विनिश्चितः । साध्याविनाभावित्वनिश्चयनमेव हि हेतोः साध्यप्रतिपादनव्यापारो नान्यः कश्चित् । प्रथमं बाधकेन प्रमाणेन साध्यप्रतिबन्धो निश्चेतव्यो हेतोः पुनरनुमानकालेन साधनं साध्यानन्तरीयकं सामान्येन स्मर्तव्यं । कृतकत्वं नामानित्यत्वस्वभावमिति । सामान्येन स्मृतमर्थं पुनर्विशेषे योजयति । इदमपि कृतकत्वं शब्दे वर्तमानमनित्यस्वभावमेवेति । तत्र सामान्यस्मरणं लिङ्गज्ञानम् । विशिष्टस्य तु शब्दगतकृतकत्वस्यानित्यत्वस्वभावस्य स्मरणमनुमानज्ञानम् । तथा च सत्यविनाभावित्वज्ञानमेव परोक्षार्थप्रतिपादकत्वं नाम । तेन निश्चिततन्मात्रानुबन्धिसाध्यधर्मे स्वभावहेतवः प्रयोक्तव्या नान्यत्रेत्युक्तम् ।

यद्येवं संबन्धो निश्चेतव्यः साध्यस्य साधनेन सह साधनधर्ममात्रानुबन्धस्तु साध्यस्य कस्मान्निश्चितो मृग्यत इत्याह ।

तस्यैव तत्स्वभावत्वात् ॥ १८ ॥

तस्यैवेति सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्धस्य । तत्स्वभावत्वादिति साधनधर्मस्वभावत्वात् । यो हि साध्यधर्मः साधनधर्ममात्रानुबन्धवान्स एव तस्य साधनधर्मस्य स्वभावो नान्यः ।

भवत्वीदृश एव स्वभावः । स्वभाव एव तु साध्ये कस्माद्धेतुप्रयोगः ।

स्वभावस्य च हेतुत्वात् ॥ १९ ॥

स्वभावस्य हेतुत्वात्। स्वभाव एव इह हेतुः प्रक्रान्तः। तस्मात्स एव साध्यः कर्तव्यः यः साधनस्य स्वभावः स्यात्। साधनधर्ममात्रानुबन्धश्च स्वभावो नान्यः।

यदि साध्यधर्मः साधनस्य स्वभावः प्रतिज्ञार्थैकदेशस्तर्हि हेतुः स्यादित्याह।

वस्तुतस्तयोस्तादात्म्यात् ॥ २० ॥

वस्तुत इति। वस्तुतः परमार्थतः साध्यसाधनयोस्तादात्म्यम्। समारोपितस्तु साध्यसाधनयोर्भेदः। साध्यसाधनभावो हि निश्चयारूढे रूपे। निश्चयारूढं च रूपं समारोपितेन भेदेनेतरेतरव्यावृत्तिकृतेन भिन्नमित्यन्यत्साधनमन्यत्साध्यम्। दूराद्धि शाखादिमानर्थो वृक्ष इति निश्चीयते न शिंशपेति। अत्र च स एव वृक्षः नैव शिंशपा। तस्मादभिन्नमपि वस्तु निश्चयो भिन्नमादर्शयति व्यावृत्तिभेदेन। तस्मान्निश्चयारूढरूपापेक्षयान्यत्साधनमन्यत्साध्यम्। अतो न प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुः। वास्तवं च तादात्म्यमिति।

कस्मात्पुनः साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव साध्यः स्वभावो नान्य इत्याह।

तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य तत्स्वभावत्वाभावात् ॥ २१ ॥

तन्निष्पत्ताविति। यो हि यन्नानुबध्नाति स तन्निष्पत्तावनिष्पन्नः। तस्य तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य साधनस्वभावत्वमयुक्तम्। यतो निष्पत्त्यनिष्पत्ती भावाभावरूपे। भावाभावौ च परस्परपरिहारेण स्थितौ। यदि च पूर्वनिष्पन्नस्यानिष्पन्नस्य चैक्यं भवेदेकस्यैवार्थस्य भावाभावौ स्यातां युगपत्। न च विरुद्धयोर्भावाभावयोरैक्यं युज्यते। विरुद्धधर्मसंसर्गात्मकत्वादेकत्वाभावस्य। किं च पश्चादुत्पद्यमानं पूर्वनिष्पन्नाद्भिन्नहेतुकम्। हेतुभेदपूर्वकश्च कार्यभेदः। ततो निष्पन्नानिष्पन्नयोर्विरुद्धधर्मसंसर्गात्मको भेदो भेदहेतुश्च कारणभेद इति कुत एकत्वम्। तस्मात्साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव साध्यः स्वभावो नान्यः।

मा भूत्पश्चान्निष्पन्नः पूर्वस्य स्वभावः। साध्यस्तु कस्मान्न भवतीत्याह।

व्यभिचारसंभवाच्च ॥ २२ ॥

पूर्वेण पश्चान्निष्पन्नस्य व्यभिचारः परित्यागो यस्तस्य संभवाच्च न पूर्वनिष्पन्नस्य पश्चान्निष्पन्नः साध्यः । तस्मात्साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव यः स्वभावः स एव च साध्यः । तथा च सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्ध एव स्वभावे स्वभावहेतवः प्रयोक्तव्या इति स्थितम् ।

कार्यहेतोरपि प्रयोगः । यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसादौ । अस्ति चेह धूम इति ॥ २३ ॥

कार्यहेतोः प्रयोगः । साधर्म्यवानिति प्रकरणादुपलक्षणीयम् । यत्र धूम इति धूममनूद्य तत्राग्निरित्यग्नेर्विधिः । तथा च नियमार्थः पूर्ववदवगन्तव्यः । तदनेन कार्यकारणभावनिमित्ता व्याप्तिर्दर्शिता । व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयं दर्शयितुमाह । यथा महानसादाविति । महानसादौ हि प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कार्यकारणभावात्माविनाभावो निश्चितः । अस्ति चेहेति साध्यधर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारः ।

इहापि सिद्ध एव कार्यकारणभावे कारणे साध्ये कार्यहेतुर्वक्तव्यः ॥ २४ ॥

इहापीति । न केवलं स्वभावहेताविहापि कार्यहेतौ । सिद्ध एवेति निश्चिते कार्यकारणत्वे । कार्यकारणभावनिश्चयो ह्यवश्यंकर्तव्यः । यतो न योग्यतया हेतुर्गमको ऽपि तु नान्तरीयकत्वादित्युक्तम् ।

साधर्म्यवत्स्वभावकार्यानुपलम्भानां प्रयोगो दर्शितः । वैधर्म्यवत्तं दर्शयितुमाह ।

वैधर्म्यवतः प्रयोगः । यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एव । यथा नीलादिविशेषः । न चैवमिहोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य सत उपलब्धिर्घटस्येत्यनुपलब्धिप्रयोगः ॥ २५ ॥

वैधर्म्यवत इति । यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति यत्सद्दृश्यमित्यस्तित्वानुवादः । तदुपलभ्यत इत्युपलम्भविधिः । तदनेन दृश्यस्य सत्त्वं दर्शनविषयत्वेन व्याप्तं ख्यापितमसत्त्वनिवृत्तिश्च । सत्त्वमनुपलम्भनिवृत्तिश्चोपलम्भः । तेन साध्यनिवृत्त्यनुवादेन साधननिवृत्तिर्विहिता । तथा च साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्तौ नियतत्वात्साधननिवृत्त्या व्याप्ता कथिता । यदि च धर्मिणि साध्यधर्मो न भवेद्धेतुरपि न भवेत् । हेत्वभावेन साध्याभावस्य व्याप्तत्वात् । अस्ति च हेतुः । अतो व्यापकस्य साधनाभावस्याभावाद्व्याप्यस्य साध्याभावस्याभाव इति साध्यनिश्चयो भवति । ततो वैधर्म्यप्रयोगे साधनाभावे साध्याभावो नियतो दर्शनीयः सर्वत्रेति न्यायः ।

स्वभावहेतोर्वैधर्म्यप्रयोगमाह ।

असत्यनित्यत्वे नास्ति सत्त्वमुत्पत्तिमत्त्वं कृतकत्वं वा । संश्च शब्द उत्पत्तिमान्कृतको वेति स्वभावहेतोः प्रयोगः ॥ २६ ॥

असत्यनित्यत्व इति । इहानित्यत्वस्य साध्यस्याभावो हेतोरभावे नियत उच्यते । तेन हेत्वभावेन साध्याभावो व्याप्त उक्तः । त्रिष्वपि स्वभावहेतुषु ' सन्नुत्पत्तिमान्कृतको वा शब्द इति त्रयाणामपि पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम् । इह च साधनाभावस्य व्यापकस्याभाव उक्तः । ततो व्याप्योपि साध्याभावो निवृत्त इति साध्यगतिः ।

कार्यहेतोर्वैधर्म्यप्रयोगमाह ।

असत्यग्नौ न भवत्येव धूमः । अत्र चास्ति धूम इति कार्यहेतोः प्रयोगः ॥ २७ ॥

असत्यग्नाविति । इहापि वह्न्यभावो धूमाभावेन व्याप्त उक्तः । अस्ति चात्र धूम इति व्यापकस्य धूमाभावस्याभाव उक्तः । ततो व्याप्यस्य वह्न्यभावस्याभावे साध्यगतिः ।

ननु च साधर्म्यवति व्यतिरेको नोक्तः । वैधर्म्यवति चान्वयः । तत्कथमेतत्त्रिरूपलिङ्गाख्यानमित्याह ।

साधर्म्येणापि हि प्रयोगेऽर्थाद्वैधर्म्यगतिरिति ॥ २८ ॥

साधर्म्येणेति । साधर्म्येणाप्यभिधेयेन युक्ते प्रयोगे क्रियमाणेऽर्थादिति सामर्थ्याद्वैधर्म्यस्य व्यतिरेकस्य गतिर्भवतीति । हीति यस्मात् । तस्मात्त्रिरूपलिङ्गाख्यानमेतत् । यदि नाम व्यतिरेको ऽन्वयवति नोक्तो ऽन्वयवचनसामर्थ्यादेवावसीयते । कथम् ।

असति तस्मिन्साध्येन हेतोरन्वयाभावात् ॥ २९ ॥

असति तस्मिन्व्यतिरेके बुद्ध्यध्यवसिते साध्येन हेतोरन्वयस्य बुद्ध्यावसितस्याभावात् । साध्ये नियतं साधनमन्वयवाक्यादवस्यता साध्याभावे साधनं नाशङ्कनीयम् । इतरथा साध्यनियतमेव न प्रतीतं स्यात् । साध्याभावे च साधनाभावगतिर्व्यतिरेकगतिः । अतः साध्यनियतस्य साधनस्याभिधानसामर्थ्यादन्वयवाक्ये ऽवसितो व्यतिरेकः ।

तथा वैधर्म्येणाप्यन्वयगतिः ॥ ३० ॥

तथेति । यथान्वयवाक्ये तथार्थादेव वैधर्म्येण प्रयोगे ऽन्वयस्यानभिधीयमानस्यापि गतिः । कथम् ।

असति तस्मिन्साध्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेः ॥ ३१ ॥

असति तस्मिन्नन्वये बुद्धिगृहीते साध्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेरनवसायात् । हेत्वभावे साध्याभावं नियतं व्यतिरेकवाक्यादवस्यता हेतुसंभवे साध्याभावो नाशङ्कनीयः । इतरथा हेत्वभावे नियतः साध्याभावो न स्यात्प्रतीतः । हेतुसत्त्वे च साध्यसत्त्वगतिरन्वयगतिः । अतः साधनाभावनियतस्य साध्याभावस्याभिधानसामर्थ्याद्व्यतिरेकवाक्ये ऽन्वयगतिः ।

यदि नामाकाशादौ साध्याभावे साधनाभावस्तथापि किमिति हेतुसंभवे साध्यसंभव इत्याह ।

न हि स्वभावप्रतिबन्धे ऽसत्येकस्य निवृत्तावपरस्य नियमेन निवृत्तिः ॥ २२ ॥

न हीति । स्वभावेन प्रतिबन्धो यस्तस्मिन्नसत्येकस्य साध्यस्य निवृत्त्या नापरस्य साधनस्य नियमेन युक्ता नियमवती निवृत्तिः ।

स च द्विप्रकारः सर्वस्य । तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्चेत्युक्तम् ॥ २३ ॥

स च स्वभावप्रतिबन्धो द्विप्रकारः सर्वस्य प्रतिबद्धस्य । तादात्म्यं लक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः । तदुत्पत्तिर्लक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः । यो यत्र प्रतिबद्धस्तस्य स प्रतिबन्धविषयो ऽर्थः स्वभावः कारणं वा स्यात् । अन्यस्मिन्नप्रतिबद्धत्वानुपपत्तेः । तस्माद्द्विप्रकारः स इत्युक्तम् । स च साध्ये ऽर्थे लिङ्गस्येत्यत्रान्तरे ऽभिहितः ।

तेन हि निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो दर्शनीयः । तस्मान्निवृत्तिवचनमाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनमेव भवति । यच्च प्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनमित्येकेनापि वाक्येनान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षासपक्षयोर्लिङ्गस्य सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति नावश्यं वाक्यद्वयप्रयोगः ॥ २४ ॥

तेन हीत्यादि । यस्मात्स्वभावप्रतिबन्धे निवर्त्यनिवर्तकभावस्तेन साध्यस्य निवृत्तौ साधनस्य निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो निवर्त्यनिवर्तकयोर्दर्शनीयः । यदि हि साधनं साध्ये प्रतिबद्धं भवेदेवं साध्यनिवृत्तौ तन्नियमेन निवर्तेत । यतश्च तस्य प्रतिबन्धो दर्शनीयस्तस्मात्साध्यनिवृत्तौ यत्साधननिवृत्तिवचनं तेनाक्षिप्तं प्रतिबन्धोपदर्शनम् । यच्चाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनम् । प्रतिबन्धश्चेदवश्यं दर्शयितव्यो न वक्तव्यस्तर्ह्यन्वयः । यस्माद्दृष्टान्ते प्रमाणेन प्रतिबन्धो दर्श्यमान एवान्वयो नापरः कश्चित्तस्मान्निवर्त्यनिवर्तकयोः प्रतिबन्धो ज्ञातव्यः । तथा चान्वय एव ज्ञातो भवति । इतिशब्दो हेतौ । यस्मादन्वये व्यतिरेकगतिर्व्यतिरेके चान्वयगतिस्तस्मादेकेनापि सपक्ष

चामयते च सत्त्वासत्त्वयोः व्यापनं कृतम् । अन्वयो मुखमुपायो ऽभिधेयताख्यस्य तदन्वयमुखं वाक्यम् । एवं व्यतिरेको मुखं यस्येति । इति हेतौ । यस्मादेकेनापि वाक्येन द्वयगतिस्तस्मादेकस्मिन्साधनवाक्ये द्वयोरन्वयव्यतिरेकवाक्ययोरवश्यमेव प्रयोगो न कर्तव्यः । अर्थगत्यर्थो हि शब्दप्रयोगः । अर्थश्चेदवगतः किं शब्दप्रयोगेण । एकमेव तदन्वयवाक्यं व्यतिरेकवाक्यं वा प्रयोक्तव्यम् ।

अनुपलब्धावपि 'यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एवेत्युक्ते' ऽनुपलभ्यमानं तादृशमसदिति प्रतीतेरन्वयसिद्धिः ॥ ३५ ॥

अनुपलब्धावपि व्यतिरेकिणोक्तेनान्वयगतिः । यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति साध्यस्यासद्व्यवहारयोग्यत्वस्य निवृत्तिं दृश्यसत्त्वरूपामाह । तदुपलभ्यत एवेत्यनुपलम्भस्य निवृत्तिमुपलम्भरूपामाह । तदनेन साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता । यदि च साधनसंभवे ऽपि साध्यनिवृत्तिर्भवेन्न साधनाभावेन व्याप्ता भवेत् । अतो व्याप्तिं प्रतिपद्यमानेन साधनसंभवः साध्यसंभवेन व्याप्तः प्रतिपत्तव्यः । अत एवाहानुपलभ्यमानं तादृशमिति दृश्यमसदिति प्रतीतिः संप्रत्ययादन्वयसिद्धिरिति ।

द्वयोरप्यनयोः प्रयोगे नावश्यं पक्षनिर्देशः ॥ ३६ ॥

यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां प्रतिपत्तव्यं द्वयोरपि प्रयोगयोस्तस्मात्पक्षो ऽवश्यमेव न निर्देश्यः । यत्साधनं साध्यनियतं प्रतीतं तत एव साध्यधर्मिणि दृष्टात्साध्यप्रतीतिः । अतो न किंचित्साध्यनिर्देशेनेति ।

एवमेवार्थमनुपलब्धिप्रयोगे दर्शयति ।

तस्मात्साधर्म्यवत्प्रयोगे ऽपि 'यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सो ऽसद्व्यवहारविषयः । नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्युक्ते' सामर्थ्यादेव नेह घट इति भवति ॥ ३७ ॥

साधर्म्यवति प्रयोगे ऽपि सामर्थ्यादेव नेह प्रदेशे घट इति भवति । किं पुनस्तत्सामर्थ्यमित्याह । यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यत इत्यनुपलम्भानुवादः । सो ऽस-

द्व्यवहारविषय इत्यसद्व्यवहारयोग्यत्वविधिः। तथा च सति दृश्यानुपलम्भो ऽसद्व्यवहारयोग्यत्वेन व्याप्तो दर्शितः। नोपलभ्यते चेत्यादिना साध्यधर्मिणि सत्त्वं लिङ्गस्य दर्शितम्। यदि च साध्यधर्मस्तत्र साध्यधर्मिणि न भवेत्साधनधर्मो ऽपि न भवेत्। साध्यनियतत्वात्तस्य साधनधर्मस्येति सामर्थ्यम्।

तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगे ऽपि। यः सद्व्यवहारविषय उपलब्धिलक्षणप्राप्तः स उपलभ्यत एव। न तथात्र तादृशो घट उपलभ्यत इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषय इति भवति ॥ ३८ ॥

यथा साधर्म्यवत्प्रयोगे तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगे ऽपि सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषयो ऽस्ति घट इति भवति। सामर्थ्यं दर्शयितुमाह। यः सद्व्यवहारविषय इति विद्यमानः। उपलब्धिलक्षणप्राप्त इति दृश्यः। इत्येषा साध्यनिवृत्तिः। स उपलभ्यत एवेति साधननिवृत्तिरिति। अनेन साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता। न तथेति। यथान्यो दृश्य उपलभ्यते न तथात्र प्रदेशे तादृश इति दृश्यो घट उपलभ्यत इति। अनेन साध्यनिवृत्तेर्व्यापिका साधननिवृत्तिरसती साध्यधर्मिणि दर्शिता। यदि च न साध्यधर्मः साध्यधर्मिणि भवेत्साधनधर्मो ऽपि न भवेदस्ति च साधनधर्म इति सामर्थ्यम्। अतः सामर्थ्यान्नास्त्यत्र घट इति प्रतीतेर्न पक्षनिर्देशः। एवं कार्यस्वभावहेत्वोरपि सामर्थ्यात्संप्रत्यय इति न पक्षो निर्देश्यः।

कीदृशः पुनः पक्ष इति निर्देश्यः ॥ ३९ ॥

कीदृशः पुनरर्थः पक्ष इत्यनेन शब्देन निर्देश्यो वक्तव्य इत्याह।

स्वरूपेणैव स्वयमिष्टो ऽनिराकृतः पक्ष इति ॥ ४० ॥

स्वरूपेणैवेति। साध्यत्वेनैव। स्वयमिति वादिना। इष्ट इति नोक्त एवापि त्विष्टो ऽपीत्यर्थः। एवंभूतः सन्प्रत्यक्षादिभिरनिराकृतो यो ऽर्थः स पक्ष इत्युच्यते। अथ यदि न

पक्षो निर्देश्यः कथमनिर्देश्यस्य लक्षणमुक्तम् । न साधनवाक्यावयवत्वादस्य लक्षणमुक्तमपि त्वसाध्यं केचित्साध्यं साध्यं चासाध्यं प्रतिपन्नाः । तत्साध्यासाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पक्षलक्षणमुक्तम् ।

स्वरूपेणेष्ट इत्यस्य विवरणम् ।

स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः ॥ ४१ ॥

साध्यत्वेनेष्ट इति । पक्षस्य साध्यत्वान्नापरमस्ति रूपम् । अतः स्वरूपं साध्यत्वमिति ।

एवशब्दं विवरीतुमाह ।

स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनेष्टो न साधनत्वेनापि ॥ ४२ ॥

स्वरूपेणैवेति । ननु चैवशब्दः केवल एव प्रत्ययमर्हत्यस्तत्किमर्थं स्वरूपशब्देन सह प्रत्ययमृष्टः । उच्यते । एवशब्दो निपातो द्योतकः । पदान्तराभिहितस्यार्थस्य विशेषं द्योतयतीति पदान्तरेण विशेष्यवाचिना सह निर्दिष्टः । न साधनत्वेनापीति । यत्साधनत्वेन निर्दिष्टं तत्साधनत्वेनेष्टम् । असिद्धत्वाच्च साध्यत्वेनापीष्टम् । तस्य निवृत्त्यर्थ एवशब्दः ।

तदुदाहरति ।

यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये, चाक्षुषत्वं हेतुः, शब्दे ऽसिद्धत्वात्साध्यम् । न पुनस्तदिह साध्यत्वेनेष्टं, साधनत्वेनाभिधानात् ॥ ४३ ॥

यथेति । शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये, चाक्षुषत्वं हेतुः, शब्दे ऽसिद्धत्वात्साध्यमित्यनेन साध्यत्वेनेष्टिमाह । तदिति चाक्षुषत्वम् । इहेति शब्दे । न साध्यत्वेनैवेष्टमिति साध्यत्वेनेष्टिनियमाभावमाह । साधनत्वेनाभिधानादिति । यतः साधनत्वेनाभिहितमतः साधनत्वेनापीष्टम् । न साध्यत्वेनैवेति ।

स्वयमित्यनेन स्वयंशब्दं व्याख्येयमुपक्षिप्य तस्यार्थमाह ।

स्वयमिति वादिना ॥ ४४ ॥

वादिनेति । स्वयंशब्दो निपातः । आत्मन इति षष्ठ्यन्तस्यात्मनेति च तृतीयान्तस्यार्थे वर्तते । तदिह तृतीयान्तस्यात्मशब्दस्यार्थे वृत्तः स्वयंशब्दः । आत्मशब्दश्च संबन्धिशब्दः । वादी च प्रत्यासन्नः । ततो यस्य वादिन आत्मा तृतीयार्थयुक्तः स एव तृतीयार्थयुक्तो निर्दिष्टो वादिनेति । न तु स्वयंशब्दस्य वादिनेत्येष पर्यायः ।

कः पुनरसौ वादीत्याह ।

यस्तदा साधनमाह ॥ ४५ ॥

यस्तदेति वादकाले साधनमाह । अनेकवादिसंभवे ऽपि स्वयंशब्दवाच्यस्य वादिनो विशेषणमेतत् । यद्येवं वादिन इष्टः साध्य इत्युक्तम् । एतेन च किमुक्तम् । अनेन तदा वादकाले तेन वादिना स्वयं यो धर्मः साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतरो धर्म इत्युक्तं भवति । वादिनो ऽनिष्टधर्मसाध्यत्वनिवर्तनमस्य वचनस्य फलमिति यावत् ।

अथ कस्मिन्सत्यन्यधर्मसाध्यत्वसंभवो यन्निवृत्त्यर्थं चेदं वक्तव्यमित्याह ।

एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः साधनमाह, तच्छास्त्रकारेण तस्मिन्धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमे ऽपि, यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः, स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति ॥ ४६ ॥

तच्छास्त्रकारेणेति । यच्छास्त्रं तेन वादिनाभ्युपगतं तच्छास्त्रकारेण तस्मिन्साध्यधर्मिण्यनेकस्य धर्मस्याभ्युपगमे सत्यन्यधर्मसाध्यत्वसंभवः । तथा हि शास्त्रं येनाभ्युपगतं तस्मिन्सिद्धो धर्मः सर्व एव तेन साध्य इत्यस्ति विप्रतिपत्तिः । अनेनापास्यते । अनेकधर्माभ्युपगमे ऽपि सति स एव साध्यो यो वादिन इष्टो नान्य इति । ननु च शास्त्रानपेक्षं वस्तुबलप्रवृत्तं लिङ्गम् । अतो ऽनपेक्षणीयत्वान्न शास्त्रे स्थित्वा वादः कर्तव्यः । सत्यम् । ओकानुरूपिकया तु यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थित इति, किंचिच्छास्त्रमभ्युपगतः, साधनमाह, तथापि य एव तस्येष्टः स एव तस्य साध्य इति ज्ञापनायेदमुक्तम् ।

इष्ट इतीष्टशब्दमुपक्षिप्य व्याचष्टे ।

इष्ट इति, यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सो ऽनुक्तो ऽपि वचनेन साध्यः ॥ ३७ ॥

यत्रार्थ आत्मनि विरुद्धो वादः प्रक्रान्तो, नास्त्यात्मेत्यात्मप्रतिषेधवाद आत्मवादविरुद्धो, विधिप्रतिषेधयोर्विरोधात्, तेन विवादेन हेतुना साधनमुपन्यस्तं तस्यात्मार्थस्य सिद्धिं निश्चयमिच्छता वादिना, सो ऽर्थः साध्य इत्युक्तं भवतीष्टशब्देन। यत्, तदित्युक्तं भवतीति अक्षणामन्ते, तदित्यध्याहृत्य वाक्यं परिसमापयितव्यम्। यद्यपि परार्थानुमान उक्त एव साध्यो युक्तो, ऽनुक्तो ऽपि तु वचनेन साध्यः, सामर्थ्याक्षिप्तत्वात्तस्य। कुत एतदित्याह।

तदधिकरणत्वाद्विवादस्य ॥ ३८ ॥

तदित्यादि। तदिति सो ऽर्थो ऽधिकरणमाश्रयो यस्य स तदधिकरणो विवादः, तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मादिति। एतदुक्तं भवति। यस्माद्विवादं निराकर्तुमिच्छता वादिना साधनमुपन्यस्तं, तस्माद्यदधिकरणो विवादस्तदेव साध्यम्। यतो विरुद्धं वादमपनेतुं साधनमुपन्यस्तं, तच्चेन्न साध्यं किमिदानीं जगति नियतं किंचित्साध्यं स्यादिति।

अनुक्तमपि परार्थानुमाने साध्यमिष्टं, तदुदाहरति।

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति। अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावप्यात्मार्थता साध्या। अनेन नोक्तमात्रमेव साध्यमित्युक्तं भवति ॥ ३९ ॥

परार्था इति। चक्षुरादिर्येषां श्रोत्रादीनां ते चक्षुरादय इति धर्मी। परस्मा इमे परार्था इति साध्यं पारार्थ्यम्। संघातत्वादिति हेतुः। व्याप्तिविषयप्रदर्शनं शयनासनाद्यङ्गवदिति। शयनमासनं च ते आदी यस्य तच्छयनासनादि पुरुषोपभोगाङ्गं संघात-

4*

क्तम्। तद्वदत्र प्रमाणे ' परार्थाश्चक्षुरादय इत्यात्मार्थता नोक्ता ' अनुक्ताप्यात्मार्थता साध्या। तथा हि। सांख्येनोक्तमस्त्यात्मा। तद्विरुद्धं बौद्धेनोक्तं नास्त्यात्मेति। ततः सांख्येन स्ववादविरुद्धं बौद्धवादं हृदि कृत्य विरुद्धवादनिराकरणाय स्ववादप्रतिष्ठापनाय च साधनमुपन्यस्तम्। अतो ऽनुक्ताप्यात्मार्थता साध्या ' तदधिकरणत्वाद्विवादस्य। शयनासनादिषु हि पुरुषोपभोगाङ्गेष्वात्मार्थत्वेनान्वयो न प्रसिद्धः ' संघातस्य पारार्थ्यमात्रेण तु सिद्धः। ततः परार्था इत्युक्तम्। चक्षुरादय इत्यत्रादिग्रहणाद्विज्ञानमपि परार्थं साधयितुमिष्टम्। विज्ञानाच्च पर आत्मैव स्यात्। परस्यार्थकारि विज्ञानं भविष्यतीति सामर्थ्यादात्मार्थत्वं सिध्यति चक्षुरादीनामिति मत्वा ' परार्थग्रहणं कृतम्। तेनेह साध्यवचनेन नोक्तमात्रं ' अपि तु प्रतिवादिनो विवादास्पदत्वाद्वादिना साधयितुमिष्टं ' उक्तमनुक्तं वा प्रकरणगम्यं साध्यमित्युक्तं भवति।

अनिराकृत इति। एतल्लक्षणयोगे ऽपि यः साधयितुमिष्टो ऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम्॥ ५८॥

अनिराकृत इति व्याख्येयम्। एतदित्यनन्तरप्रक्रान्तं यत्पक्षलक्षणमुक्तं साध्यत्वेनेष्टत्यादि ' एतल्लक्षणेन योगे ऽप्यर्थो न पक्ष इति प्रदर्शनार्थं प्रतिपादनायानिराकृतग्रहणं कृतम्। कीदृशो ऽर्थो न पक्षः साधयितुमिष्टो ऽपीत्याह। यः साधयितुमिष्टो ऽर्थः ' प्रत्यक्षं चानुमानं च प्रतीतिश्च स्ववचनं च ' तैर्निराक्रियते ' विपरीतः साध्यते ' न स पक्ष इति।

तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो यथा ' अश्रावणः शब्द इति॥ ५९॥

तत्रेति। तेषु चतुर्षु प्रत्यक्षादिनिराकृतेषु प्रत्यक्षनिराकृतः कीदृशः। यथेति। यथायं प्रत्यक्षनिराकृतस्तथान्ये ऽपि द्रष्टव्या इति यथाशब्दार्थः। श्रवणेन ग्राह्यः श्रावणः। न श्रावणो ऽश्रावणः ' श्रोत्रेण न ग्राह्य इति प्रतिज्ञार्थः। श्रोत्रग्राह्यत्वं शब्दस्य प्रत्यक्षसिद्धेन श्रोत्रग्राह्यत्वेन बाध्यते।

अनुमाननिराकृतो यथा ' नित्यः शब्द इति ॥ ५२ ॥

अनुमाननिराकृतो ' नित्यः शब्द इति । शब्दस्य प्रतिज्ञातं नित्यत्वमनित्यत्वेनानुमानसिद्धेन निराक्रियते ।

प्रतीतिनिराकृतो यथा ' अचन्द्रः शशीति ॥ ५३ ॥

प्रतीत्या निराकृतो ' ऽचन्द्र इति । चन्द्रशब्दवाच्यो न भवति शशीति प्रतिज्ञातार्थः । अयं च प्रतीत्या निराकृतः । प्रतीतो ऽर्थ उच्यते विकल्पविज्ञानविषयः । प्रतीतिः प्रतीतत्वं विकल्पविज्ञानविषयत्वमुच्यते । तेन विकल्पविज्ञानविषयत्वेन प्रतीतिरूपेण शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वं सिद्धमेव । तथा हि । यद्विकल्पज्ञानग्राह्यं तच्छब्दाकारसंसर्गयोग्यम् । यच्छब्दाकारसंसर्गयोग्यं तत्सांकेतिकेन शब्देन वक्तुं शक्यम् । अतः प्रतीतिरूपेण विकल्पविज्ञानविषयत्वेन सिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वमचन्द्रत्वस्य बाधकम् । स्वभावहेतुश्च प्रतीतिरूपः ' यस्माद्विकल्पविषयत्वमात्रानुबन्धिनी सांकेतिकशब्दवाच्यता । ततः स्वभावहेतुसिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वमवाच्यत्वस्य बाधकं द्रष्टव्यम् ।

स्ववचननिराकृतो यथा ' नानुमानं प्रमाणमिति ॥ ५४ ॥

स्ववचनं प्रतिज्ञार्थस्यात्मीयो वाचकः शब्दः । तेन निराकृतः प्रतिज्ञार्थो न साध्यः । यथा नानुमानं प्रमाणम् । अत्रानुमानस्य प्रामाण्यनिषेधः प्रतिज्ञार्थः । स नानुमानं प्रमाणमित्यनेन स्ववाचकेन वाक्येन बाध्यते । वाक्यं ह्येतत्प्रयुज्यमानं वक्तुः शाब्दस्य प्रत्ययस्य सद्भावमिष्टं सूचयति । तथा हि । मद्वाक्याद्यो ऽर्थसंप्रत्ययस्तवोत्पद्यते सो ऽसत्यार्थ इति दर्शयन्वाक्यमेव नोच्चारयेद्वक्ता । वचनार्थश्चेदसत्यः परेण ज्ञातव्यो वचनमपार्थकम् । यो ऽपि हि सर्वं मिथ्या ब्रवीमीति वक्ति सो ऽप्यस्य वाक्यस्य सत्यार्थत्वमादर्शयन्नेव वाक्यमुच्चारयति । यद्येतद्वाक्यं सत्यार्थमादर्शितमेवं वाक्यात्प्रामाण्यात्मीयान्य-

सत्यार्थानि दर्शितानि भवन्ति। एतस्य तु पञ्चसत्यार्थमन्यान्यसत्यार्थानि न दर्शितानि भवन्ति। ततश्च न किंचिदुच्चारणस्य फलमिति नोच्चारयेत्। तस्माद्वाक्यप्रभवं वाक्यार्थालम्बनं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयन्नेव वक्ता वाक्यमुच्चारयति। तथा च सति बाह्यवस्तुनान्तरीयकं शब्दं दर्शयता शब्दजं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयितव्यम्। ततो बाह्यार्थकार्याच्छब्दादुत्पन्नं विज्ञानं सत्यार्थमादर्शयता कार्यलिङ्गजमनुमानं प्रमाणं शाब्दं दर्शितं भवति। तस्मान्नानुमानं प्रमाणमिति ब्रुवता शाब्दस्य प्रत्ययस्यासमर्थो ग्राह्य उक्तो, ऽसदर्थत्वमेव ह्यप्रामाण्यमुच्यते, नान्यत्। शब्दोच्चारणसामर्थ्याच्चार्थाविनाभावी स्वशब्दो दर्शितः, तथा च सत्यार्थो दर्शितः। ततः कल्पितार्थकार्याच्छब्दाच्छाब्दप्रत्ययार्थस्यानुमितं सत्त्वं प्रतिज्ञायमानमसत्त्वं प्रतिबध्नाति। तदेवं स्ववचनानुमितेन सत्त्वेनासत्त्वं बाध्यमानं स्ववचनेन बाधितमुक्तमित्ययमत्रार्थः।

अन्ये त्वाहुः। अभिप्रायकार्याच्छब्दाज्जातं ज्ञानमभिप्रायालम्बनं, सदर्थमिच्छतः शब्दप्रयोगः, तेनाप्रामाण्यं प्रतिज्ञातं बाध्यत इति। तदयुक्तम्। यत इह प्रतीतेः स्वभावहेतुत्वं स्ववचनस्य च कार्यहेतुत्वं कल्पितमिष्टं, न वास्तवम्। अभिप्रायकार्यत्वं च वास्तवमेव शब्दस्य। ततस्तदिह न गृह्यते। किं च। यथानुमानमनिच्छन्नग्न्यव्यभिचारित्वं धूमस्य न प्रत्येति, तथा शब्दस्याप्यभिप्रायाव्यभिचारित्वं न प्रत्येष्यति। बाह्यवस्तुप्रत्यायनाय च शब्दः प्रयुज्यते। तन्न शब्दस्याभिप्रायाविनाभावित्वाभ्युपगमपूर्वकः शब्दप्रयोगः। अपि च। न स्वाभिप्रायनिवेदनाय शब्द उच्चार्यते, अपि तु बाह्यवस्तुसत्त्वप्रतिपादनाय। तस्माद्बाह्यवस्त्वविनाभावित्वाभ्युपगमपूर्वकः शब्दप्रयोगः। अतः पूर्वमेव व्याख्यानमनवद्यम्।

चत्वारः पक्षाभासा निराकृता भवन्ति ॥ ५५ ॥

एवं च सत्यनिराकृतग्रहणादनन्तरोक्ताश्चत्वारः पक्षवदाभासन्त इति पक्षाभासा निरस्ता भवन्ति। संप्रति पक्षलक्षणपदानि येषां व्यवच्छेदकानि तेषां व्यवच्छेदेन यादृशः पक्षाभासो लभ्यते, तं दर्शयितुं व्यवच्छेद्यान्संक्षिप्य दर्शयति।

एवं सिद्धस्य, असिद्धस्यापि साधनत्वेनाभिमतस्य, स्वयं वादिना तदा साधयितुमनिष्टस्य, उक्तमात्रस्य, निराकृतस्य च विपर्ययेण साध्यः । तेनैव स्वरूपेणाभिमतो, वादिन इष्टो, ऽनिराकृतः पक्ष इति पक्षलक्षणमनवद्यं दर्शितं भवति ॥ ५६ ॥

एवमित्यनन्तरोक्तक्रमेण । सिद्धस्य विपर्ययेण विपरीतत्वेन हेतुना साध्यो ऽव-गम्यः । यस्माद्यो ऽतिसिद्धो ऽर्थो विपरीतः स साध्य इत्यर्थः । सिद्धश्च विपरीतो ऽसिद्धस्य । तस्मादसिद्धः साध्यः । असिद्धो ऽपि न सर्वो ऽपि तु साधनत्वेनोक्तस्यासिद्धस्यापि वि-पर्ययेण, स्वयं वादिना साधयितुमनिष्टस्यासिद्धस्य विपर्ययेण, तथोक्तमात्रस्यासिद्धस्यापि विपर्ययेण, तथा निराकृतस्यासिद्धस्यापि विपर्ययेण, साध्यः । यश्चायं पञ्चभिर्विशेषणै-र्हितो ऽर्थो ऽसिद्धो ऽसाधनं वादिनः स्वयं साधयितुमिष्ट उक्तोनुक्तो वा प्रमाणैर-निराकृतः साध्यः, स एवामीं स्वरूपेणैव स्वयमिष्टो ऽनिराकृत एतैः पदैरुक्त इत्यर्थः । यश्चायं साध्यः स पक्ष उच्यते । इतिशब्द एवमर्थे । एवं पक्षलक्षणमनवद्यमिति । अवि-द्यमानमवद्यं दोषो यस्य तदनवद्यम् । दर्शितं कथितम् ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परिसमाप्य प्रसङ्गागतं च पक्षलक्षणमभिधाय हेत्वाभासा-न्वक्तुकामस्तेषां प्रस्तावं रचयति, त्रिरूपेत्यादिना ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमित्युक्तम् । तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः ॥ ५७ ॥

एतदुक्तं भवति । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं वक्तुकामेन स्फुटं तद्वक्तव्यम् । एवं च तत्स्फुटमुक्तं भवति यदि तच्च तत्प्रतिरूपकं चोच्यते । हेयज्ञाते हि तद्विविक्तमुपादेयं सुज्ञातं भवतीति । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमिति प्रागुक्तम् । तत्रेति तस्मिन्स-ति, त्रिरूपलिङ्गाख्याने परार्थानुमाने सतीत्यर्थः । त्रयाणां रूपाणां मध्य एकस्याप्य-

नुक्तौ। अपिशब्दाद्द्वयोरपि। साधनस्याभासः' सदृशं साधनस्य' न साधनमित्यर्थः। त्रयाणां रूपाणां न्यूनता नाम साधनदोषः।

उक्तावप्यसिद्धौ संदेहे वा प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः ॥ ५८ ॥

न केवलमनुक्तावुक्तावप्यसिद्धौ संदेहे वा। कस्येत्याह। प्रतिपाद्यस्य प्रतिवादिनः प्रतिपादकस्य च वादिनो हेत्वाभासः।

अथ कस्य रूपस्यासिद्धौ संदेहे वा किंसंज्ञको हेत्वाभास इत्याह।

एकस्य रूपस्य धर्मिसंबन्धस्यासिद्धौ संदेहे चासिद्धो हेत्वाभासः ॥ ५९ ॥

एकस्य रूपस्येति। धर्मिणा सह संबन्धः धर्मिसंबन्धः। धर्मिणि सत्त्वं हेतोः। तस्यासिद्धौ संदेहे वा ऽसिद्धसंज्ञको हेत्वाभासः। असिद्धत्वादेव च धर्मिण्यप्रतिपत्तिहेतुर्न साध्यस्य न विरुद्धस्य न संशयस्य हेतुरपि त्वप्रतिपत्तिहेतुः। न कस्यचिदतः प्रतिपत्तिरिति कृत्वा। अयं चार्थो ऽसिद्धसंज्ञाकरणादेव प्रतिपत्तव्यः।

उदाहरणमाह।

यथा 'अनित्यः शब्द' इति साध्ये चाक्षुषत्वमुभयासिद्धम् ॥ ६० ॥

यथेत्यादि। अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वविशिष्टे शब्दे साध्ये चाक्षुषत्वं चक्षुर्ग्राह्यत्वं शब्दे द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोरसिद्धम्।

चेतनास्तरव इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात् तस्य च तरुष्वसंभवात् ॥ ६१ ॥

चेतनास्तरव इति तरूणां चैतन्ये साध्ये 'सर्वा त्वक्सर्वत्वक्' तस्या अपहरणे सति मरणं दिगम्बरैरुपन्यस्तम्। प्रतिवादिना बौद्धस्यासिद्धम्। कस्मादसिद्धमित्याह।

विज्ञानं चेन्द्रियं चायुश्चेति द्वन्द्वः । तत्र विज्ञानं चक्षुरादिविज्ञानम् । रूपादिविज्ञानोत्पत्त्या यदनुमितं कायान्तर्भूतं चक्षुर्गोलकादिस्थितं रूपं तदिन्द्रियम् । आयुरिति लोके प्राणा उच्यन्ते । न चागमसिद्धमिह युज्यते वक्तुम् । अतः प्राणस्वभावमायुरिह । तेषां निरोधो निवृत्तिः । स लक्षणं तत्त्वं यस्य तत्तथोक्तम् । तथाभूतस्य मरणस्यानेन वैदिकेन प्रतिज्ञातत्वात् । यदि नामैवं तथापि कथमसिद्धमित्याह । तस्य च विज्ञानादिनिरोधात्मकस्य तरुष्वसंभवात् । सत्तापूर्वको निरोधः । ततश्च यो विज्ञाननिरोधं तरुष्विच्छेत्स कथं विज्ञानं नेच्छेत् । तस्माद्विज्ञानानिष्टेर्निरोधोऽपि नेष्टस्तरुषु । ननु च शोषो ऽपि मरणमुच्यते । स च तरुषु सिद्धः । सत्यम् । केवलं विज्ञानसत्तया व्याप्तं यन्मरणं तदिह हेतुः । विज्ञाननिरोधश्च तत्सत्तया व्याप्तो न शोषमात्रम् । ततो यन्मरणं हेतुस्तत्तरुष्वसिद्धम् । यत्तु सिद्धं शोषात्मकं तदहेतुः । दिगम्बरस्तु साध्येन व्याप्तमव्याप्तं वा मरणमविविच्य मरणमात्रं हेतुमाह । तदस्य वादिनो हेतुभूतं मरणं न ज्ञातम् । अज्ञानात्सिद्धं शोषरूपं शोषरूपस्य मरणस्य तरुषु दर्शनात् । प्रतिवादिनस्तु ज्ञानतो ऽसिद्धम् ।

यदा तु वादिनो ऽपि ज्ञातं तदा वादिनोऽप्यसिद्धं स्यादिति न्यायः ।

अचेतनाः सुखादय इति साध्य उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनो ऽसिद्धम् ॥ ६२ ॥

अचेतनाः सुखादय इति । सुखमादिर्येषां दुःखादीनां ते सुखादयः । तेषामचैतन्ये साध्य उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा लिङ्गमुपन्यस्तम् । य उत्पत्तिमन्तो ऽनित्या वा ते न चेतना यथा रूपादयः । तथा चोत्पत्तिमन्तो ऽनित्या वा सुखादयस्तस्मादचेतनाः । चैतन्यं तु पुरुषस्य स्वरूपम् । अत्र चोत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा पर्यायेण हेतुर्न युगपत् । तच्च द्वयमपि सांख्यस्य वादिनो न सिद्धम् । परार्थो हि हेतूपन्यासः । तेन यः परस्य सिद्धः स हेतुर्वक्तव्यः । परस्य चानित उत्पाद उत्पत्तिमत्त्वं ततश्च निरन्वयो विनाशो ऽनित्यत्वं सिद्धम् । तादृशं च द्वयमपि सांख्यस्यासिद्धम् । इहाप्यनित्यत्वोत्पत्तिमत्त्वसाधना-

ज्ञानाद्वादिनो ऽसिद्धम् । यदि त्वनित्यत्वोत्पत्तिमत्त्वयोः प्रमाणं वादिनो ज्ञातं स्याद्, वादिनोऽपि सिद्धं स्यात् । ततः प्रमाणापरिज्ञानादिदं वादिनो ऽसिद्धम् ।

संदिग्धासिद्धं दर्शयितुमाह ।

तथा स्वयं तदाश्रयणस्य वा संदेहे ऽसिद्धः ॥ ६३ ॥

स्वयमिति । हेतोरात्मनः संदेहे ऽसिद्धः, तदाश्रयणस्य चेति । तस्य हेतोराश्रयणं, आश्रीयते ऽस्मिन्हेतुरित्याश्रयणं, हेतोर्व्यतिरिक्त आश्रयभूत साध्यधर्मी कथ्यते। तत्र हि हेतुर्वर्तमानो गमकत्वेनाश्रीयते । तस्याश्रयणस्य संदेहे संदिग्धः ।

स्वात्मना संदिह्यमानमुदाहर्तुमाह ।

यथा बाष्पादिभावेन संदिह्यमानो भूतसंघातो ऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः संदिग्धासिद्धः ॥ ६४ ॥

यथेति । बाष्प आदिर्यस्य स बाष्पादिः, तद्भावेन बाष्पादित्वेन संदिह्यमानो भूतसंघात इति । भूतानां पृथिव्यादीनां संघातः समूहः । अग्निसिद्धावग्निसिद्ध्यर्थमुपदिश्यमानो ऽसिद्धः । एतदुक्तं भवति । यदा धूमो ऽपि बाष्पादित्वेन संदिग्धो भवति तदासिद्धः, गमकरूपानिश्चयात् । धूमतया निश्चितो वह्निजन्यत्वाद्गमकः । यदा तु संदिग्धस्तदा न गमक इत्यसिद्धताख्यो दोषः ।

आश्रयणासिद्धमुदाहरति ।

यथेह निकुञ्जे मयूरः केकायितादिति ॥ ६५ ॥

यथेति । इह निकुञ्ज इति धर्मी । पर्वतोपरिभागेन तिर्यङ्निर्गतेन प्रच्छादितो भूभागो निकुञ्जः । मयूर इति साध्यम् । केकायितादिति हेतुः । केकायितं मयूरध्वनिः ।

तथाश्रयणासिद्ध इत्याह ।

तदापातदेशविभ्रमे ॥ ६६ ॥

तदापात इति । तस्य केकायितस्यापात आगमनं तस्य देशः स उच्यते यस्माद्देशादागच्छति केकायितम् । तस्य विभ्रमे व्यामोहे सति । अयमाश्रयणासिद्धः । निरन्तरेषु बहुषु निकुञ्जेषु सत्सु यदा केकायितापातनिकुञ्जे विभ्रमः ' किमस्मान्निकुञ्जात्केकायितमागतमाहोस्विदन्यस्मादिति ' तदाश्रयणासिद्ध इति ।

धर्मिणो ऽसिद्धावप्यसिद्धत्वमुदाहरति ।

धर्म्यसिद्धावप्यसिद्धः ' यथा सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम् ॥ ६७ ॥

यथेति । सर्वस्मिन्गतः स्थितः सर्वगतो व्यापीति यावत् । व्यापित्व आत्मनः साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं लिङ्गम् । सर्वत्र देश उपलभ्यमानाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयो गुणा यस्यात्मनस्तस्य भावस्तत्त्वम् । न गुणा गुणिनमन्तरेण वर्तन्ते । गुणानां गुणिनि समवायात् । निष्क्रियश्चात्मा । ततश्च यदि व्यापी न भवेत्कथं दक्षिणापथ उपलब्धाः सुखादयो मध्यदेश उपलभ्येरन् । तस्मात्सर्वगत आत्मा । तदिह बौद्धस्यात्मैव न सिद्धः ' किमुत सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं सिध्येत् । तस्येत्यसिद्धो हेत्वाभासः । पूर्वमाश्रयणसंदेहेन धर्मिणि संदेह उक्तः । संप्रति त्वसिद्धो धर्म्युक्त इत्यनयोर्विशेषः । तदेवमेकस्य रूपस्य धर्मिसंबद्धस्यासिद्धावसिद्धो हेत्वाभासः ।

तथैकस्य रूपस्यासपक्षे ऽसत्त्वस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः ॥ ६८ ॥

तथा परस्यैकस्य रूपस्यासपक्षे ऽसत्त्वाख्यस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः । एको ऽन्त एकान्तो निश्चयः । स प्रयोजनमस्येत्यैकान्तिकः । नैकान्तिको ऽनैकान्तिकः । यस्मान्न साध्यस्य न विपर्ययस्य निश्चयो ऽपि तु तद्विपरीतः संशयः । साध्येतरयोः संशयहेतुरनैकान्तिक उक्तः । तमुदाहरति ।

यथा शब्दस्यानित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मः सपक्षविपक्षयोः सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानः ॥ ६९ ॥

यथेत्यादिना । अनित्यत्वमादिर्यस्य सो ऽनित्यत्वादिको धर्मः । आदिशब्दादप्रयत्नानन्तरीयकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं नित्यत्वं च परिगृह्यते । प्रमेयत्वमादिर्यस्य स प्रमेयत्वादिकः । आदिशब्दादनित्यत्वं पुनरनित्यत्वममूर्तत्वं च गृह्यते । शब्दस्य धर्मिणो ऽनित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मो ऽनैकान्तिकः । चतुर्णामपि हि विपक्षे ऽसत्त्वमसिद्धम् । तथा हि । अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादाकाशवद्घटवदिति । प्रमेयत्वं सपक्षविपक्षव्यापि । अप्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो ऽनित्यत्वाद्विद्युदाकाशवद्घटवच्च । इत्यनित्यत्वं सपक्षैकदेशवृत्ति । विद्युदादावस्ति नाकाशादौ । विपक्षव्यापि । प्रयत्नानन्तरीयके सर्वत्र भावात् । अनित्यत्वात्प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो घटवद्विद्युदाकाशवच्च । इत्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशवृत्ति । विद्युदादावस्ति नाकाशादौ । सपक्षव्यापि । सर्वत्र प्रयत्नानन्तरीयके भावात् । नित्यः शब्दो ऽमूर्तत्वादाकाशपरमाणुवत्कर्मघटवच्च । इत्यमूर्तत्वमुभयैकदेशवृत्ति । उभयोरेकदेश आकाशे कर्मणि च वर्तते । परमाणौ तु सपक्षैकदेशे घटादौ च विपक्षैकदेशे न वर्तते । मूर्तत्वाद्घटपरमाणुप्रभृतीनाम् । नित्यास्तु परमाणवो वैशेषिकैरभ्युपगम्यन्ते । ततः सपक्षान्तर्गताः । अस्य चतुर्विधस्य पक्षधर्मस्यासत्त्वमसिद्धं विपक्षे । ततो ऽनैकान्तिकता ।

तथास्यैव रूपस्य संदेहे ऽप्यनैकान्तिक एव ॥ ७० ॥

यथा चास्य रूपस्यासिद्धावनैकान्तिकस्तथास्यैव विपक्षे ऽसत्त्वाख्यस्य रूपस्य संदेहे ऽनैकान्तिकः । तमुदाहरति ।

यथासर्वज्ञः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमान्वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः ॥ ७१ ॥

यथेति । असर्वज्ञ इत्यसर्वज्ञत्वं साध्यम् । कश्चिद्विवक्षित इति वक्तुरभिप्रेतः पुरुषो धर्मी । रागा आदिर्यस्य द्वेषादेः स रागादिः । स यस्यास्ति स रागादिमानिति द्वितीयं सा-

ध्यम्। वाग्ग्रहणं रागादिमत्त्वस्य पृथक्साध्यत्वख्यापनार्थम्। ततो ऽसर्वज्ञत्वे रागादिमत्त्वे वा साध्ये प्रकृते वक्तृत्वं वचनशक्तिस्तदादिर्यस्योन्मेषनिमेषादेः स वक्तृत्वादिको धर्मो ऽनैकान्तिकः। संदिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य स तथोक्तः। असर्वज्ञत्वे साध्ये सर्वज्ञत्वं विपक्षः। तत्र वचनादेः सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धम्। अतो न ज्ञायते वक्ता सर्वज्ञ उतासर्वज्ञ इत्यनैकान्तिकं वक्तृत्वम्।

ननु च सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते। तत्कथं वचनं सर्वज्ञे संदिग्धम्।

सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यत इत्येवंप्रकारस्यानुपलम्भस्यादृश्यात्मविषयत्वेन संदेहहेतुत्वाद् असर्वज्ञविपर्ययाद्वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः संदिग्धा॥ ७२॥

अत एव सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यत इति एवंप्रकारस्यैवंजातीयस्यानुपलम्भस्य संदेहहेतुत्वात्। कुत इत्याह। अदृश्यात्मा विषयो यस्य तस्य भावो ऽदृश्यात्मविषयत्वं तेन संदेहहेतुत्वम्। यतो ऽदृश्यविषयो ऽनुपलम्भः संशयहेतुर्न निश्चयहेतुस्ततो ऽसर्वज्ञविपक्षात्सर्वज्ञाद्वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः संदिग्धा।

वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधाभावाच्च यः सर्वज्ञः स वक्ता न भवतीत्यदर्शने ऽपि व्यतिरेको न सिध्यति। संदेहात्॥ ७३॥

नानुपलम्भात्सर्वज्ञे वक्तृत्वमसद्भूतो। अपि तु सर्वज्ञत्वेन सह वक्तृत्वस्य विरोधात्। सर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोर्विरोधो नास्ति। विरोधाभावाच्च कारणाद्व्यतिरेको न सिध्यतीति संबन्धः। व्याप्तिमन्तं व्यतिरेकं दर्शयति। यः सर्वज्ञ इति। साध्याभावरूपं सर्वज्ञत्वमनूद्य स न वक्ता भवतीति साधनस्य वक्तृत्वस्याभावो विधीयते। तेन साध्याभावः साधनाभावे नियतत्वात्साधनाभावेन व्याप्त उक्त इति। व्याप्तिमानीदृशो व्यतिरेको विरोधे सति वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोः सिध्येत्। न चास्ति विरोधः। तस्मान्न सिध्यति। कुत इत्याह। संदेहात्। यतो विरोधाभावस्तस्मात्संदेहः। संदेहाद्व्यतिरेकासिद्धिः।

कथं विरोधाभावः।

द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः ॥ ७४ ॥

हीति यस्माद्द्विविध एव विरोधो नान्यः । तस्मान्न वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधः । कः पुनरसौ द्विविधो विरोध इत्याह ।

अविकलकारणस्य भवतो ऽन्यभावे ऽभावाद्विरोधगतिः ॥ ७५ ॥

अविकलकारणस्येति । अविकलानि समग्राणि कारणानि यस्य स तथोक्तः । यस्य कारणवैकल्यादभावो न तस्य केनचिदपि विरोधगतिः । तदर्थमविकलकारणग्रहणम् । ननु च यस्यापि कारणावैकल्यं तस्यापि निवृत्तिरशक्या केनचिदपि कर्तुं तत्कुतो विरोधगतिः । एवं तर्हि । अविकलकारणस्यापि यत्कृतात्कारणवैकल्याद्भावस्तेन विरोधगतिः । तथा च सति यो यस्य विरुद्धः स तस्य किंचित्कर एव । तथा हि । शीतस्पर्शस्य जनको भूत्वा शीतस्पर्शान्तरजननशक्तिं प्रतिबध्नञ्शीतस्पर्शस्य निवर्तको विरुद्धः । तस्माद्धेतुवैकल्यकारी विरुद्धो जनक एव निवर्त्यस्य । सहानवस्थानविरोधश्चायम् । ततो विरुद्धयोरेकस्मिन्नपि क्षणे सहावस्थानं परिहर्तव्यम् । दूरस्थयोर्विरोधाभावाच्च निकटस्थयोरेव निवर्त्यनिवर्तकभावः । तस्माद्यो यस्य निवर्तकः स तं यदि परं तृतीये क्षणे निवर्तयति । प्रथमे क्षणे सन्निपतन्नसमर्थावस्थानयोग्यो भवति । द्वितीये विरुद्धमसमर्थं करोति । तृतीये त्वसमर्थे निवृत्ते तद्देशमाक्रामति । तत्रालोको गतिधर्मा क्रमेण जलतरंगन्यायेन देशमाक्रामन्यदान्धकारं निरन्तरमालोकक्षणं जनयति तदालोकक्षणोपवर्तिनमन्धकारमसमर्थं जनयति । ततो ऽसामर्थ्यं तस्य यस्य क्षणोपवर्त्यालोकः । असामर्थ्ये निवृत्ते तद्देशो जायत आलोक इत्येवं क्रमेणालोकेनान्धकारो ऽपनेयः । तथोष्णस्पर्शेन शीतस्पर्शो निवर्तनीयः । यदा चालोकस्तत्रैवान्धकारदेशे जन्यते तदा यतः क्षणादन्धकारदेशस्यालोकस्य जनकक्षण उत्पद्यते तत एवान्धकारो ऽन्धकारान्तरजननासमर्थ उत्पन्नः । ततो ऽसमर्थावस्थाजनकत्वमेव निवर्तकत्वम् । अतश्च यस्मिन्क्षणे जनकस्तस्मिन्नपि क्षणे निवृत्तो विरुद्धो यदि शीघ्रं

निवर्तते । जन्यजनकभावाच्च संतानयोर्विरोधो न क्षणयोः । यद्यपि च न संतानो नाम वस्तु तथापि संतानिनो वस्तुभूताः । ततो ऽयं परमार्थः । न क्षणयोर्विरोधः । अपि तु बहूनां क्षणानाम् । यतः सत्सु दहनक्षणेषु प्रवृत्ता अपि शीतक्षणा निवृत्तिधर्माणो भवन्तीति । संतानयोर्निवर्त्यनिवर्तकत्वनिमित्ते च विरोधे स्थिते सर्वेषां परमाणूनां सत्यप्येकदेशावस्थानाभावे न विरोध इतरेतरसंतानानिवर्तनात्तेषाम् । गतिधर्मा चालोको यां दिशमाक्रामति तद्दिग्वर्तिनो विरोधिसंतानान्निवर्तयति । ततो ऽपवरकैकदेशस्था प्रदीपप्रभान्धकारनिकटवर्तिन्यपि नान्धकारं निवर्तयति । अन्धकाराक्रान्तायां दिश्यालोकक्षणान्तरजननासामर्थ्यात् । कारणासामर्थ्यहेतुकत्वं संतानानिष्ठमेव विरोधं दर्शयता भवत इति कृतम् । भवतः प्रबन्धेन वर्तमानस्य शीतस्पर्शसंतानस्याभावो ऽन्यस्योष्णस्पर्शसंतानस्य भावे सतीति ।

ये त्वाहुर्न विरोधो वास्तव इति त इदं वक्तव्याः । यथा न निष्पन्ने कार्ये कश्चिज्जन्यजनकभावो नाम दृष्टो ऽस्ति कारणपूर्विका तु कार्यप्रवृत्तिरतो वास्तव एव । तद्वन्न निवृत्ते वस्तुनि कश्चिद्दृष्टो नाम विरोधो ऽस्ति । दहननिमित्तं तु शीतस्पर्शस्य क्षणान्तरासामर्थ्यम् । अतो विरोधो ऽपि वास्तव एव ।

उदाहरणमाह ।

शीतोष्णस्पर्शवत् ॥ ७६ ॥

शीतश्चोष्णश्च तावेव स्पर्शौ तयोरिव । शीतोष्णस्पर्शयोर्हि पूर्ववद्विरोधो योजनीयः ।

द्वितीयमपि विरोधं दर्शयितुमाह ।

परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भावाभाववत् ॥ ७७ ॥

परस्परपरिहारः परित्यागस्तेन स्थितं लक्षणं रूपं ययोस्तद्भावः परस्परपरिहारस्थितलक्षणता तया । इह यस्मिन्परिच्छिद्यमाने यद्व्यवच्छिद्यते तत्परिच्छिद्यमा-

नमवच्छिद्यमानपरिहारेण स्थितरूपं द्रष्टव्यम्। नीले च परिच्छिद्यमाने ताद्रूप्यप्रच्युतिरवच्छिद्यते तदव्यवच्छेदे नीलापरिच्छेदप्रसङ्गात्। तस्माद्वस्तुनो भावाभावौ परस्परपरिहारेण स्थितरूपौ। नीलात्तु यदन्यद्रूपं तन्नीलाभावाव्यभिचारि। नीलस्य दृश्यस्य पीतादावुपलभ्यमाने ऽनुपलम्भादभावनिश्चयात्। यथा च नीलं स्वाभावं परिहरति तद्वदभावाव्यभिचारि पीतादिकमपि। तथा च भावाभावयोः साक्षाद्विरोधो वस्तुनोस्त्वन्योन्याभावाव्यभिचारित्वाद्विरोधः। कस्य चान्यत्राभावावगमो ' यो नियताकारो ऽर्थो ' न त्वनियताकारो ऽर्थः ' क्षणिकत्वादिवत्। क्षणिकत्वं हि सर्वेषां नीलादीनां स्वरूपात्मकम्। अतो न नियताकारम्। अतः क्षणिकत्वपरिहारेण न किंचिद्दृश्यते। यथैवमभावो ऽपि न नियताकारः। कथमनियताकारो नाम। यावता वस्तुरूपविविक्ताकारः कल्पितो ऽभावः। ततो दृष्टं कल्पितं वा नियतं रूपमन्यत्रासद्वनीयते ' नानियतम्। एवं नित्यत्वपिशाचादिरपि नियताकारः कल्पितो द्रष्टव्यः। एकात्मकत्वविरोधश्चायम्। ययोर्हि परस्परपरिहारेणावस्थानं तयोरेकत्वाभावः। अत एव लाक्षणिको ऽयं विरोध उच्यते। लक्षणं रूपं वस्तूनां प्रयोजनमस्येति कृत्वा। विरोधेन ह्यनेन वस्तुतत्त्वं विभक्तं व्यवस्थाप्यते। अत एव दृश्यमाने रूपे यन्निषिध्यते तद्दृश्यमेवाभ्युपगम्य निषिध्यते। तथा हि। अभावो ऽपि पिशाचो ऽपि यदा पीते निषेद्धुमिष्यते तदा दृश्यात्मतया निषेध्य इति दृश्यत्वमभ्युपगम्य दृश्यानुपलब्धेरेव निषेधः। तथा च सति रूपे परिच्छिद्यमान एकस्मिंस्तदभावो दृश्यो व्यवच्छिद्यते। यच्च तदभाववान्नियताकारं रूपं तदपि दृश्यं व्यवच्छिद्यते। ततः स्वप्रच्युतिवत्प्रच्युतिमन्तो ऽपि व्यवच्छिन्ना इति। ये परस्परपरिहारस्थितरूपाः सर्वे ते ऽनेन निषिद्धैकत्वा इति। नत्यपि चास्मिन्विरोधे सहावस्थानं स्यादपि। ततो भिन्नव्यापारौ विरोधौ। एकेन विरोधेन शीतोष्णस्पर्शयोरेकत्वं बाध्यते। अन्येन सहावस्थानम्। भिन्नविषयौ च। सकलं वस्तुन्यवस्तूनि च परस्परपरिहारविरोधः। वस्तून्येव कतिपये सहानवस्थानविरोधः। तस्माद्भिन्नव्यापारौ ' भिन्नविषयौ च। ततो नानयोरन्योन्यान्तर्भाव इति।

स च द्विविधो ऽपि विरोधो वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्न संभवति ॥ ७८ ॥

स चायं द्विविधो ऽपि विरोधो वक्तृत्वं च सर्वज्ञत्वं च तयोर्न संभवति । न ह्यविकलकारणस्य सर्वज्ञत्वस्य वक्तृत्वभावादभावगतिः । सर्वज्ञत्वं ह्यदृश्यम् । अदृष्टस्य चाभावो नावसीयते । ततो नानेन विरोधगतिर्भवति । न च वक्तृत्वपरिहारेण सर्वज्ञत्वमवस्थितम् । काष्ठादयो ऽपि वक्तृत्वपरिहृतास्तेषामपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । नापि सर्वज्ञत्वपरिहारेण वक्तृत्वम् । काष्ठादीनामपि वक्तृत्वप्रसङ्गात् । तत एवाविरोधाद्वक्तृत्वविधाने न सर्वज्ञत्वनिषेधः ।

स्यादेतत् । यदि नास्त्येव विरोधो घटपटयोरिव स्यादपि तयोः सहावस्थितिदर्शनम् । अदर्शनात्तु विरोधगतिः । विरोधाच्चाभावगतिरित्याशंक्याह ।

न चाविरुद्धविधेरनुपलब्धावप्यभावगतिः ॥ ७९ ॥

न चाविरुद्धविधेरिति । अनुपलब्धावपि नायं विरुद्धविधिः । यद्यपि च सहावस्थानानुपलम्भस्तथापि न तयोर्विरोधः । यस्मान्न सहानुपलम्भमात्राद्विरोधो ऽपि तु द्वयोरुपलभ्यमानयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावावसायात् । तस्मादनुपलब्धावपि न वक्तृत्वविधिर्विरुद्धविधिः । अतो ऽस्मान्नान्यस्याभावगतिः ।

तथा न वक्तृत्वाद्रागादिमत्त्वगतिः । यतो यदि वचनादि रागादीनां कार्यं स्याद्वचनादे रागादिगतिः स्यात् । रागादिनिवृत्तौ वचनादिनिवृत्तिः स्यात् । न च कार्यम् । कुतः ।

रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावासिद्धेः ॥ ८० ॥

रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावस्यासिद्धेः कारणान्न कार्यमतो ऽस्मान्न गतिः ।

मा भूद्रागादिकार्यं वचनम् । सहचारि तु भवति । ततो रागादौ सहचारिणि निवृत्ते निवर्तते वचनमित्याशङ्क्याह ।

अर्थान्तरस्य वा कारणस्य निवृत्तौ न वचनादेर्निवृत्तिः ॥ ८१ ॥

अर्थान्तरस्य वा कारणस्य निवृत्तौ सहचारित्वदर्शनमात्रेण नान्यस्य वचनादेर्निवृत्तिः । अतो वक्तृत्वं भवेद्रागादिविरहश्च ।

इति संदिग्धव्यतिरेको ऽनैकान्तिको वचनादिः ॥ ८२ ॥

इतिशब्दस्तस्मादर्थे । तस्मादसर्वज्ञत्वविपर्ययाद्विपक्षात्सर्वज्ञत्वाद्रागादिमत्त्वविपर्ययाद्रागादिमत्त्वात्संदिग्धो व्यतिरेको वचनादेः । अतो ऽनैकान्तिको वचनादिः ।

एवमेकैकरूपासिद्धिसंदेहे हेतुदोषानाख्याय द्वयोर्द्वयो रूपयोरसिद्धिसंदेहे हेतुदोषान्वक्तुकाम आह ।

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः ॥ ८३ ॥

द्वयोरिति । द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ सत्यां विरुद्धः । त्रीणि च रूपाणि सन्ति । ततो विशेषज्ञापनार्थमाह ।

कयोर्द्वयोः ॥ ८४ ॥

कयोर्द्वयोरिति ।

विशिष्टे रूपे दर्शयति ।

सपक्षे सत्त्वस्यासपक्षे चासत्त्वस्य । यथा कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च नित्यत्वे साध्ये विरुद्धो हेत्वाभासः ॥ ८६ ॥

सपक्षे सत्त्वस्यासपक्षे चासत्त्वस्य विपर्ययसिद्धाविति संबन्धः । कृतकत्वमिति स्वभावहेतुः । प्रयत्नानन्तरीयकत्वमिति कार्यहेतुः । प्रयत्नानन्तरीयकशब्देन हि प्रयत्नानन्तरं जन्म ज्ञानं च प्रयत्नानन्तरीयकमुच्यते । जन्म जायमानस्य स्वभावः । ज्ञानं ज्ञेयस्य कार्यम् । तदिह प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं गृह्यते । तेन कार्यहेतुः । एतौ हेतू नित्यत्वे साध्ये विरुद्धौ हेत्वाभासौ ।

कस्मात्पुनरेतौ विरुद्धावित्याह ।

अनयोः सपक्षे ऽसत्त्वमसपक्षे च सत्त्वमिति विपर्ययसिद्धिः ॥ ८७ ॥

अनयोरिति। सपक्षे नित्ये कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोरसत्त्वमेव निश्चितम्। अनित्ये विपक्ष एव सत्त्वं निश्चितमिति विपर्ययसिद्धिः।

कस्मात्पुनर्विपर्ययसिद्धावप्येतौ विरुद्धावित्याह।

एतौ च साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धौ ॥ ८८ ॥

एतौ च साध्यस्य नित्यत्वस्य विपर्ययमनित्यत्वं साधयतः। ततः साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धौ।

यदि साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धावेतौ, उक्तं च परार्थानुमाने साध्यं न त्वनुक्तं, इष्टं चानुक्तं, अतो ऽन्य इष्टविघातकृदाभ्यामिति दर्शयन्नाह।

ननु च तृतीयो ऽपीष्टविघातकृद्विरुद्धः ॥ ८९ ॥

ननु च तृतीयो ऽपि विरुद्ध उक्तः। उक्तविपर्ययसाधनौ द्वौ। तृतीयो ऽयमिष्टस्य शब्देनानुपात्तस्य विघातं करोति विपर्ययसाधनादितीष्टविघातकृत्।

तमुदाहरति।

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति ॥ ९० ॥

यथेति। चक्षुरादय इति धर्मी। परो ऽर्थः प्रयोजनं संस्कार्य उपकर्तव्यो येषां ते परार्था इति साध्यम्। संघातत्वात्संचितरूपत्वादिति हेतुः। चक्षुरादयो हि परमाणुसंचितरूपाः। ततः संघातरूपा उच्यन्ते। शयनमासनं चादिर्यस्य तच्छयनासनादि। तदेवाङ्गं पुरुषोपभोगाङ्गत्वात्। अयं व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः। अत्र हि पारार्थ्येन संहतत्वं व्याप्तम्। यतः शयनासनादयः संघातरूपाः पुरुषस्य भोगिनो भवन्त्युपकारका इति परार्था उच्यन्ते।

कथमयमिष्टविघातकृदित्याह।

तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धः ॥ ९१ ॥

तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनादिति । असंहते विषये पारार्थ्यमसंहतपारार्थ्यम् । तस्य सांख्यस्य वादिन इष्टमसंहतपारार्थ्यं तदिष्टासंहतपारार्थ्यं । तस्य विपर्ययः संहतपारार्थ्यं नाम । तस्य साधनाद्विरुद्धः । आत्मास्तीति ब्रुवाणः सांख्यः । कुत एतदिति पर्यनुयुक्तो बौद्धेनेदमात्मनः सिद्धये प्रमाणमाह । तस्मादसंहतस्यात्मन उपकारकत्वं साध्यं चक्षुरादीनाम् । अयं तु हेतुर्विपर्ययव्याप्तः । यस्माद्यो यस्योपकारकः स तस्य जनकः । जन्यजनकश्च युगपत्क्रमेण वा भवति संहतः । तस्मात्परार्थाश्चक्षुरादयः संहतपरार्था इति सिद्धम् ।

अयं च विरुद्ध आचार्यदिग्नागेनोक्तः ।

स इह कस्मान्नोक्तः ।

न कस्माद्वार्त्तिककारेण सता त्वया नोक्तः । इतर आह ।

अनयोरेवान्तर्भावात् ॥ ९२ ॥

अनयोरेव साध्यविपर्ययसाधनयोरन्तर्भावात् ।

ननु चोक्तविपर्ययं न साधयति । तत्कथमुक्तविपर्ययसाधनयोरेवान्तर्भाव इत्याह ।

न ह्ययमाभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन भिद्यते ॥ ९३ ॥

न ह्ययमिति । हीति यस्मादर्थे । यस्मादयमिष्टविघातकदाभ्यां हेतुभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन न भिद्यते । यथा तौ साध्यविपर्ययसाधनौ तथायमपि । उक्तविपर्ययं तु साधयतु मा वा किमुक्तविपर्ययसाधनेन । तस्मादनयोरेवान्तर्भावः ।

ननु चोक्तमेव साध्यं । तत्कथं साध्यविपर्ययसाधनत्वेनाभेद इत्याह ।

न हीष्टोक्तयोः साध्यत्वेन कश्चिद्विशेष इति ॥ ९४ ॥

न हीति । यस्मादिष्टोक्तयोः परस्परस्य साध्यत्वेन न कश्चिद्विशेषो भेद इति तस्मादनयोरेवान्तर्भाव इत्युपसंहारः । प्रतिवादिनो हि यज्जिज्ञासितं तत्प्रकरणापन्नम् ।

यच्च प्रकरणापन्नं तत्साधनेच्छया विषयीकृतम्। साध्यमिष्टमुक्तमनुक्तं वा। न तूक्तमात्रमेव साध्यम्। तेनाविशेष इति।

द्वयो रूपयोरेकस्यासिद्धावपरस्य च संदेहे ऽनैकान्तिकः ॥ ९५ ॥

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्ध उक्तः। अनयोर्द्वयोर्मध्य एकस्यासिद्धावपरस्य च संदेहे ऽनैकान्तिकः।

कीदृशो ऽसावित्याह।

यथा वीतरागः कश्चित्सर्वज्ञो वा वक्तृत्वादिति। व्यतिरेको ऽत्रासिद्धः। संदिग्धो ऽन्वयः ॥ ९६ ॥

यथेति। विगतो रागो यस्य स वीतराग इत्येकं साध्यम्। सर्वज्ञो वेति द्वितीयम्। वक्तृत्वादिति हेतुः। व्यतिरेको ऽत्रासिद्ध इति। स्वात्मन्येव सरागे चासर्वज्ञे च विपक्षे वक्तृत्वं दृष्टम्। अतो ऽसिद्धो व्यतिरेकः। संदिग्धो ऽन्वयः।

कुत इत्याह।

सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद्वचनादेस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धम् ॥ ९७ ॥

सपक्षभूतयोः सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षादित्यतीन्द्रियत्वाद्, वचनादेरिन्द्रियगम्यस्यापि तत्र, अतीन्द्रिययोः सर्वज्ञत्ववीतरागयोः, सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धम्। ततश्च न ज्ञायते किं वक्तृत्वात्सर्वज्ञ उत नेत्यनैकान्तिक इति।

संप्रति द्वयोरेव संदेहे ऽनैकान्तिकं वक्तुमाह।

अनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहे ऽनैकान्तिकः ॥ ९८ ॥

अनयोरेवान्वयव्यतिरेकरूपयोः संदेहात्संशयहेतुः।

उदाहरणम्।

यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति ॥ ९९ ॥

यथेति। सहात्मना वर्तते सात्मकमिति साध्यम्। शरीरमिति धर्मी। जीवद्ग्रहणं धर्मिविशेषणम्। मृते ह्यात्मानं नेच्छति। प्राणा आश्वासादय आदिर्यस्योन्मेषनिमेषादेः प्राणिधर्मस्य स प्राणादिः। स यस्यास्ति तत्प्राणादिमज्जीवच्छरीरम्। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्मादित्येष हेतुः। अयमसाधारणः संशयहेतुरुपपादयितव्यः। पक्षधर्मस्य च द्वाभ्यां कारणाभ्यां संशयहेतुत्वम्। संशयविषयौ यावाकारौ ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः संग्रहात्। तयोश्च व्यापकयोराकारयोरेकत्रापि वृत्त्यनिश्चयात्। याभ्यां ह्याकाराभ्यां सर्वं वस्तु न संगृह्यते तयोराकारयोर्न संशयः। प्रकारान्तरसंभवे हि पक्षधर्मो धर्मिणमविपुक्तं द्वयोरेकेन धर्मेण दर्शयितुं न शक्नुयादतो न संशयहेतुः स्यात्। द्वयोर्धर्मयोरनियतं भावं दर्शयन्संशयहेतुः। द्वयोस्त्वनियतमपि भावं दर्शयितुमशक्तो ऽप्रतिपत्तिहेतुः। नियतं भावं दर्शयन्हेतुर्विरुद्धो वा स्यात्। तस्माद्याभ्यां सर्वं वस्तु संगृह्यते तयोः संशयहेतुर्यदि तयोरेकत्रापि सद्भावनिश्चयो न स्यात्। सद्भावनिश्चये तु यद्येकत्र नियतसत्तानिश्चयो विरुद्धो हेतुर्वा स्यात्। अनियतसत्तानिश्चये तु साधारणानैकान्तिकः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः संदिग्धान्वयो ऽसिद्धव्यतिरेको वा स्यात्। एकत्रापि तु वृत्त्यनिश्चयादसाधारणानैकान्तिको भवति। ततो ऽसाधारणानैकान्तिकस्यानैकान्तिकत्वे हेतुद्वयं दर्शयितुमाह।

न हि सात्मकनिरात्मकाभ्यामन्यो राशिरस्ति यत्र प्राणादिर्वर्तेत ॥ १०० ॥

न हीति। सहात्मना वर्तते सात्मकः। निष्क्रान्त आत्मा यस्मात्स निरात्मकः। ताभ्यां यस्मान्नान्यो राशिरस्ति। किंभूतो। यत्रायं वस्तुधर्मः प्राणादिर्वर्तेत। तस्मादयं तयोर्भवति संशयहेतुः।

कस्मादन्यराश्यभाव इत्याह।

आत्मनो वृत्तिव्यवच्छेदाभ्यां सर्वसंग्रहात् ॥ १०१ ॥

आत्मनो वृत्तिः सद्भावो व्यवच्छेदो ऽभावस्ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः संग्रहात्क्रोडीकरणात् । यत्र ह्यात्मास्ति तत्सात्मकम् । अन्यन्निरात्मकम् । ततो नान्यो राशिरस्तीति संशयहेतुत्वकारणम् ।

प्रकाराभ्यां सर्वसंग्रहं प्रतिपाद्य द्वितीयमाह ।

नाप्यनयोरेकत्र वृत्तिनिश्चयः ॥ १०२ ॥

नाप्यनयोः सात्मकानात्मकयोर्मध्य एकत्र सात्मके ऽनात्मके वा वृत्तेः सद्भावस्य निश्चयो ऽस्ति । द्वावपि राशी त्यक्त्वा न वर्तते प्राणादिर्वस्तुधर्मत्वात् । ततश्चानयोरेव वर्तत इत्येतावदेव ज्ञातम् । विशेषे तु वृत्तिनिश्चयो नास्तीत्ययमर्थः । तदाह ।

सात्मकत्वेन निरात्मकत्वेन वा प्रसिद्धे प्राणादेरसिद्धेस्ताभ्यां न व्यतिरिच्यते ॥ १०३ ॥

सात्मकत्वेनानात्मकत्वेन वा विशेषेण युक्ते प्रसिद्धे निश्चिते वस्तुनि प्राणादेर्धर्मस्यासिद्धेरनैकान्तिको ऽनिश्चितत्वात् । तदेवमसाधारणस्य धर्मस्यानैकान्तिकत्वे कारणद्वयमभिहितम् ।

पक्षधर्मश्च भवन्सर्वः साधारणो ऽसाधारणो वा भवत्यनैकान्तिकः । तस्मादुपसंहारव्याजेन पक्षधर्मत्वं दर्शयति ।

तस्माज्जीवच्छरीरसंबन्धी प्राणादिः सात्मकादनात्मकाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तत्वेनासिद्धः ॥ १०४ ॥

तस्मादित्यादिना । जीवच्छरीरस्य संबन्धी पक्षधर्म इत्यर्थः । यस्मात्तयोरेकत्रापि न निवृत्तिनिश्चयस्तस्मात्ताभ्यां न व्यतिरिच्यते । वस्तुधर्मो हि सर्ववस्तुव्यापिनोः

प्रकारयोरेकत्रनियतसद्भावो निश्चितः प्रकारान्तरान्निवर्तेत । तत एवाह । सात्मकाद्-नात्मकाच्च सर्वस्माद्वस्तुनो व्यावृत्तत्वेनासिद्धेरिति । प्राणादिस्तावत्कुतश्चिद्घटादेर्निवृत्त एव । तत एतावदवसातुं शक्यं । सात्मकादनात्मकाद्वा कियतो निवृत्तः । सर्वस्मात्तु निवृत्तो नावसीयते । ततो न कुतश्चिद्व्यतिरेकः ।

यद्येवमन्वयो ऽस्तु तयोर्निश्चित इत्याह ।

न तत्रान्वेति ॥ १०५ ॥

न तत्र सात्मके ऽनात्मके वार्थे ऽन्वेत्यन्वयवान्प्राणादिः ।

कुत इत्याह ।

एकात्मन्यप्यसिद्धेः ॥ १०६ ॥

एकात्मन्यपीति । एकात्मनि सात्मके ऽनात्मके वासिद्धेः कारणात् । वस्तुधर्मतया तयोर्द्वयोरेकत्र वा वर्तत इत्यवसितः प्राणादिः । न तु सात्मक एव निरात्मक एव वा वर्तत इति कुतो ऽन्वयनिश्चयः ।

ननु च प्रतिवादिनो न किंचित्सात्मकमस्ति । ततो ऽस्य हेतोर्न सात्मके ऽन्वयो न व्यतिरेक इत्यन्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः सात्मके । न तु सद्भावसंशय इत्याशङ्क्याह ।

नापि सात्मकान्निरात्मकाच्च तस्यान्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः ॥ १०७ ॥

नापि सात्मकाद्वस्तुनस्तस्य प्राणादेरन्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः । नापि च निरात्मकात् । सात्मकादनात्मकादिति च पञ्चमी व्यतिरेकशब्दापेक्षया द्रष्टव्या ।

कथमन्वयव्यतिरेकयोर्नाभावनिश्चय इत्याह ।

एकाभावनिश्चयस्यापरभावनान्तरीयकत्वात् ॥ १०८ ॥

एकस्यान्वयस्य व्यतिरेकस्य वा यो ऽभावनिश्चयः स एवापरस्य द्वितीयस्य भाव-

निश्चयनान्तरीयको ' भावनिश्चयस्याव्यभिचारी । तस्य भावस्तत्त्वं ' तस्मात् । यत एकाभावनिश्चयो ऽपरभावनिश्चयनान्तरीयकस्तस्मान्न द्वयोरेकत्राभावनिश्चयः ।

कस्मात्पुनरेकस्याभावनिश्चयो ऽपरसद्भावनिश्चयाव्यभिचारीत्याह ।

अन्वयव्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात् । अत एवान्वयव्यतिरेकयोः संदेहादनैकान्तिकः ॥ १०९ ॥

अन्वयव्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वादिति । अन्योन्यस्य व्यवच्छेदो ऽभावः ' स एव रूपं ययोस्तयोर्भावस्तत्त्वं ' तस्मात्कारणात् । अन्वयव्यतिरेकौ भावाभावौ । भावाभावौ च परस्परव्यवच्छेदरूपौ । यस्य व्यवच्छेदेन यत्परिच्छिद्यते तत्तत्परिहारेण व्यवस्थितम् । स्वाभावव्यवच्छेदेन च भावः परिच्छिद्यते । तस्मात्स्वाभावव्यवच्छेदेन भावो व्यवस्थितः । अभावो हि नीरूपो यादृशो विकल्पेन दर्शितः । नीरूपतां च व्यवच्छिद्य रूपमाकारवत्परिच्छिद्यते । तथा च सत्यन्वयाभावो व्यतिरेको व्यतिरेकाभावश्चान्वयः । ततो ऽन्वयाभावे निश्चिते व्यतिरेको निश्चितो भवति । व्यतिरेकाभावे च निश्चिते ऽन्वयो निश्चितो भवति । तस्माद्यदि नाम सात्मकमवस्तु निरात्मकं च वस्तु तथापि न तयोः प्राणादेरन्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः । एकवस्तुन्येकवस्तुनो युगपद्भावाभावविरोधात् । तयोरभावनिश्चयायोगात् । न च प्रतिवाद्यनुरोधात्सात्मकानात्मके वस्तुनी सदसती ' किं तु प्रमाणानुरोधाद् ' इत्युभे संदिग्धे । ततस्तयोः प्राणादिमत्त्वस्य सदसत्त्वसंशयः । यत एव क्वचिदन्वयव्यतिरेकयोर्न भावनिश्चयो नाप्यभावनिश्चयस्तत एवान्वयव्यतिरेकयोः संदेहः । यदि तु क्वचिदप्यन्वयव्यतिरेकयोरेकस्याप्यभावनिश्चयः स्यात्स एव द्वितीयस्य भावनिश्चय इत्यन्वयव्यतिरेकसंदेह एव न स्यात् । यतश्च न क्वचिद्भावाभावनिश्चयस्तत एवान्वयव्यतिरेकयोः संदेहः । संदेहाच्चानैकान्तिक इत्याह ।

कस्मादनैकान्तिक इत्याह ।

साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात् ॥ ५० ॥

साध्यस्येतरस्य च विरुद्धस्यातः संदिग्धान्वयव्यतिरेकान्निश्चयाभावात् । सपक्षविपक्षयोर्हि सदसत्त्वसंदेहे न साध्यस्य न विरुद्धस्य सिद्धिः । न च सात्मकानात्मकाभ्यामपरः प्रकारः संभवति । ततः प्राणादिमत्त्वाद्धर्मिणि जीवच्छरीरे संशय आत्मभावाभावयोरित्यनैकान्तिकः प्राणादिरिति ।

त्रयाणां रूपाणामसिद्धौ संदेहे च हेतुदोषानुपपाद्योपसंहरन्नाह ।

एवं त्रयाणां रूपाणामेकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयोरसिद्धौ संदेहे च यथायोगमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥ ५१ ॥

एवमित्यनन्तरोक्तेन क्रमेण । एषां मध्य एकैकं रूपं यदासिद्धं संदिग्धं वा भवति ' द्वे द्वे वासिद्धे संदिग्धे वा भवतः ' तदासिद्धश्च विरुद्धश्चानैकान्तिकाश्च ते हेत्वाभासाः । यथायोगमिति । यस्यासिद्धौ संदेहे वा यो हेत्वाभासो युज्यते स तस्यासिद्धेः संदेहाच्च व्यवस्थाप्यत इति यस्य यस्य येन येन योगो यथायोगमिति ।

विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः ॥ ५२ ॥

ननु चाचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः । हेत्वन्तरसाधितस्य विरुद्धं यत्तन्न व्यभिचरति स विरुद्धाव्यभिचारी । यदि वा विरुद्धश्चासौ साधनान्तरसिद्धस्य धर्मस्य विरुद्धसाधनादव्यभिचारी च स्वसाध्याव्यभिचाराद्विरुद्धाव्यभिचारी ।

सत्यं ' उक्त आचार्येण ।

स इह कस्मान्नोक्तः ।

मया त्विह नोक्तः । कस्मादित्याह ।

अनुमानविषयेऽसंभवात् ॥ ५३ ॥

अनुमानस्य विषयः प्रमाणसिद्धं त्रैरूप्यम् । यतो ह्यनुमानस्य संभवः सो ऽनुमानस्य विषयः । प्रमाणसिद्धाच्च त्रैरूप्यादनुमानसंभवः । तस्मात्तदेवानुमानविषयः । तस्मिन्प्र-

क्तास्ति न विरुद्धाव्यभिचारिसंभवः । प्रमाणसिद्धे हि त्रैरूप्ये प्रस्तुते न एव हेत्वाभासः संभवति यस्य प्रमाणसिद्धं रूपम् । न च विरुद्धाव्यभिचारिणः प्रमाणसिद्धमस्ति रूपम् । अतो न संभवः । ततो ऽसंभवान्नोक्तः ।

कस्मादसंभव इत्याह ।

न हि संभवो ऽस्ति कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोरनुपलम्भस्य च विरुद्धतायाः ॥ ११४ ॥

न हीति । यस्मान्न संभवो ऽस्ति विरुद्धतायाः । कार्यं च स्वभावश्च तयोरुक्तलक्षणयोरिति । कार्यस्य कारणाज्जन्म लक्षणं तत्त्वम् । स्वभावस्य च साध्यव्याप्तत्वं तत्त्वम् । यत्कार्यं यश्च स्वभावः स कथमात्मकारणं व्यापकं च स्वभावं परित्यज्य भवेद्येन विरुद्धः स्यात् । अनुपलम्भस्य चोक्तलक्षणस्येति । दृश्यानुपलम्भत्वमनुपलम्भलक्षणम् । तस्यापि वस्तुस्वभावाव्यभिचारित्वान्न विरुद्धत्वसंभवः ।

स्यादेतत् । एतेभ्यो ऽन्यो भविष्यतीत्याह ।

न चान्यो ऽव्यभिचारी ॥ ११५ ॥

न चान्य एतेभ्यो ऽव्यभिचारी त्रिभ्यः । अत एव तेष्वेव हेतुत्वम् ।

कथं तर्ह्याचार्यदिग्नागेनायं हेतुदोष उक्त इत्याह ।

तस्मादवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य तदर्थविचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्तः ॥ ११६ ॥

यस्माद्वस्तुबलप्रवृत्ते ऽनुमाने न संभवति तस्मादागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य विरुद्धाव्यभिचार्युक्तः । आगमसिद्धं हि यस्यानुमानस्य लिङ्गत्रैरूप्यं तस्यागम आश्रयः । ननु चागमसिद्धमपि त्रैरूप्यं प्रमाणसिद्धमित्याह । अवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमिति । अवस्तुनो दर्शनं विकल्पमात्रं । तस्य बलं सामर्थ्यं । ततः प्रवृत्तमप्रमाणाद्विकल्पमात्रादवसितं

त्रैरूप्यमागमसिद्धमनुमानस्य , न तु प्रमाणात् । ततश्चानुमानमागमसिद्धत्रैरूप्यं बाधि-
तमित्याह । तदर्थेति । तस्यागमस्य यो ऽर्थो ऽतीन्द्रियः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामविषयी-
कृतः सामान्यादिस्तस्य विचारेषु प्रक्रान्तेष्वागमाश्रयमनुमानं संभवति । तदाश्रयो वि-
रुद्धाव्यभिचार्युक्त आचार्येणेति ।

कस्मात्पुनरागमाश्रये ऽप्यनुमाने संभव इत्याह ।

शास्त्रकाराणामर्थेषु भ्रान्त्या विपरीतस्य स्वभावोपसंहारसंभवात् ॥ ११७ ॥

शास्त्रकर्ता विपरीतस्य वस्तुविरुद्धस्य स्वभावस्योपसंहारो ढौकनमर्थेषु , तस्य
संभवाद्विरुद्धाव्यभिचारिसंभवः । भ्रान्त्येति विपर्यासेन । विपर्यस्ता हि शास्त्रकारा-
स्तं तमसन्तं स्वभावमारोपयन्तीति ।

यदि शास्त्रकृतो ऽपि भ्रान्ता , अन्येष्वपि पुरुषेषु क आश्वास इत्याह ।

न ह्यस्य संभवो यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्यानुपलम्भेषु ॥ ११८ ॥

न हीति । न हेतुषु कल्पनया हेतुव्यवस्था , अपि तु वस्तुस्थित्या । ततो यथा-
वस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्यानुपलम्भेष्वस्य संभवो नास्ति । अवस्थितं परमार्थसद्वस्तु
तदनतिक्रान्ता यथावस्थिता वस्तुस्थितिर्व्यवस्था येषां ते यथावस्थितवस्तुस्थितयः ।
ते हि यथा वस्तु स्थितं तथा स्थिता , न कल्पनया । अतस्तेषु न भ्रान्तेरवकाशो ऽस्ति
येन विरुद्धाव्यभिचारिसंभवः स्यात् ।

तत्र विरुद्धाव्यभिचारिण्युदाहरणम् ।

अत्रोदाहरणं , यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसंबन्धिभिर्युगपदभिसंबध्यते तत्स-
र्वगतं , यथाकाशं , अभिसंबध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसंबन्धिभिर्युगपत्सा-
मान्यमिति ॥ ११९ ॥

यत्सर्वस्मिन्देशे ऽवस्थितैः स्वसंबन्धिभिर्युगपदभिसंबध्यते तत्सर्वदेशावस्थितैर्-

भिसंबध्यमानत्वं सामान्यस्यानूद्य सर्वगतत्वं विधीयते । तेन युगपदभिसंबध्यमानत्वं सर्वगतत्वे नियतं तेन व्याप्तं कथ्यते । इह सामान्यं कणादमहर्षिणा निष्क्रियं दृश्यमेकं चोक्तम् । युगपच्च सर्वैः स्वैः स्वैः संबन्धिभिः समवायेन संबद्धम् । तत्र पैलुकेन कणादशिष्येण व्यक्तिषु व्यक्तिरहितेषु च देशेषु सामान्यं स्थितं साधयितुं प्रमाणमिदमुपन्यस्तम् । यथाकाशमिति । व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः । यथाकाशमपि हि सर्वदेशावस्थितैर्वृक्षादिभिः स्वसंयोगिभिर्युगपदभिसंबध्यमानं सर्वगतं च । अभिसंबध्यते च सर्वदेशावस्थितैः स्वसंबन्धिभिरिति हेतोः पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम् ।

अस्य स्वभावहेतुत्वं योजयन्नाह ।

तत्संबन्धिस्वभावमात्रानुबन्धिनी तद्देशसंनिहितस्वभावता । न हि यो यत्र नास्ति स तद्देशमात्मना व्याप्नोतीति स्वभावहेतुप्रयोगः ॥ १८० ॥

तत्संबन्धीति । तेषां सर्वदेशावस्थितानां द्रव्याणां संबन्धी सामान्यस्य स्वभावः । स एव तत्संबन्धिस्वभावमात्रं । तदनुबध्नातीति तदनुबन्धिनी । कासावित्याह । तद्देशसंनिहितस्वभावता । तेषां संबन्धिनां देशस्तद्देशः । तद्देशे संनिहितः स्वभावो यस्य तत्तद्देशसंनिहितस्वभावः । तस्य भावस्तत्ता । यस्य हि येषां संबन्धी स्वभावस्तन्नियमेन तेषां देशे संनिहितं भवति । ततस्तत्संबन्धित्वानुबन्धिनी तद्देशसंनिहितता सामान्यस्य । ननु च गवां संबन्धी स्वामी । न च तद्देशे संनिहितस्वभावः स्वामी । तत्कथं तत्संबन्धित्वात्तद्देशत्वमित्याह । न हीति । यो यत्र देशे नास्ति स देशो यस्य स तद्देशः । तं न व्याप्नोत्यात्मना स्वरूपेण । इह सामान्यस्य तद्वतां च समवायलक्षणः संबन्धः । स चाभिन्नदेशयोरेव । तेन यत्र यत्समवेतं तत्तदात्मीयेन रूपेण क्रोडीकुर्वत्समवायिप्रदेशे स्वात्मानं निवेशयति । तद्देशरूपनिवेशनमेव तत्क्रोडीकरणम् । ततस्तत्समवायः । तस्माद्यद्यत्र समवेतं तत्तत्र द्रव्यं व्याप्नुवदात्मना तद्देशे संनिहितं भवति । तदयमर्थः । तद्देशान्यवस्तुव्यापनं तद्देशतया व्याप्तम् । तद्देशताभावे तद्व्यापनाभावाद्व्यापनलक्षणः

तदात्मसंबन्धो न स्यात्। अस्ति च व्यापनम्। अतस्तद्देशे संनिहितत्वादिति। तदयं स्वभावहेतुः।

पैठरप्रयोगं दर्शयन्नाह।

द्वितीयो ऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत्तत्रास्ति। तद्यथा क्वचिदविद्यमानो घटः। नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति। अयमनुपलम्भप्रयोगः स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनादेकत्र संशयं जनयतः॥ ११९॥

द्वितीयो ऽपीति। यदुपलब्धेर्लक्षणतां विषयतां प्राप्तं दृश्यमित्यर्थः। एतेन दृश्यानुपलब्धिमनूद्य न तत्तत्रास्तीत्यसद्व्यवहार्यत्वं विहितम्। ततो व्याप्यस्य दृश्यानुपलब्धेर्व्यापकमसद्व्यवहार्यत्वं दर्शितम्। तद्यथेति। क्वचिदसन्घटो दृष्टान्तः। पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमाह। नोपलभ्यते चेति। व्यक्त्यन्तरालं व्यक्त्यन्तरं च व्यक्तिशून्यं चाकाशम्। दृश्यमपि कस्यांचिद्व्यक्तौ गोसामान्यमश्वादिषु व्यक्त्यन्तरेषु व्यक्तिशून्ये चाकाशे नोपलभ्यते। तस्मान्न तत्रास्तीति गम्यते। अयमनुपलम्भः पूर्वोक्तश्च स्वभावः परस्परविरुद्धौ यावर्थौ तयोः साधनात्तावेकस्मिन्धर्मिणि संशयं जनयतः। न ह्येको ऽर्थः परस्परविरुद्धस्वभावो भवितुमर्हतीति। एकेन चात्र व्यक्त्यन्तरेषु व्यक्तिशून्ये चाकाशे सत्त्वं अपरेण चानुपलम्भेनासत्त्वं साध्यते। न चैकस्यैकदैकत्र सत्त्वमसत्त्वं च युक्तं तयोर्विरोधात्। तदागमसिद्धस्य सामान्यस्य सर्वगतत्वासर्वगतत्वयोः साध्ययोरेतौ विरुद्धाव्यभिचारिणौ जातौ। यतः सामान्यस्यैकस्य युगपत्सर्वदेशावस्थितैरभिसंबन्धित्वं चाभ्युपगतं दृश्यत्वं च। ततः सर्वसंबन्धित्वात्सर्वगतत्वं दृश्यत्वादन्तरालानुपलम्भादसर्वगतत्वम्। ततः शास्त्रकारेणैव विरुद्धव्याप्तमनपश्यता विरुद्धव्याप्तौ धर्मावुक्तौ विरुद्धाव्यभिचार्यवकाशो दत्त इति। न च वस्तुन्यस्य संभवः। इत्युक्ता हेत्वाभासाः।

ननु च साधनावयवत्वाद्यथा हेतव उक्तास्तत्प्रसङ्गेन च हेत्वाभासास्तथा साधनावयवत्वाद्दृष्टान्ता वक्तव्यास्तत्प्रसङ्गेन च दृष्टान्ताभासाः। तत्कथं नोक्ता इत्याह।

त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्। तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते गतार्थत्वात् ॥ १२२ ॥

त्रिरूपो हेतुरुक्तस्तत्किं दृष्टान्तः। स्यादेतत्। तावता नार्थप्रतीतिरित्याह। तावतैवेति। उक्तलक्षणेनैव हेतुना भवति साध्यप्रतीतिः। अतः स एव गमकः। ततस्तद्वचनमेव साधनम्। न दृष्टान्तो नाम साधनस्यावयवः। यतश्चायं नावयवस्तेन नास्य दृष्टान्तस्य लक्षणं हेतुलक्षणात्पृथगुच्यते। कथं तर्हि हेतोर्व्याप्तिनिश्चयो यद्यदृष्टान्तको हेतुरिति चेत्। नोच्यते हेतुरदृष्टान्तक एव। अपि तु न हेतोः पृथग्दृष्टान्तो नाम। हेत्वन्तर्भूत एव दृष्टान्तः। अत एवोक्तं नास्य लक्षणं पृथगुच्यत इति। न चैवमुक्तं, नास्य लक्षणमुच्यत इति। यद्येवं हेतूपयोगिनो ऽपि लक्षणं वक्तव्यमेवेत्याह, गतार्थत्वात्। गतो ऽर्थः प्रयोजनमभिधेयं वा यस्य दृष्टान्तलक्षणस्य, तथा तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मात्। दृष्टान्तलक्षणं ह्युच्यते दृष्टान्तप्रतीतिर्यथा स्यात्। दृष्टान्तश्च हेतुलक्षणादेवावसितः। ततो दृष्टान्तलक्षणस्य यत्प्रयोजनं दृष्टान्तप्रतीतिस्तद्गतं निष्पन्नम्। अभिधेयं वा गतं ज्ञातं दृष्टान्ताख्यम्।

कथं गतार्थमित्याह।

हेतोः सपक्ष एव सत्त्वमसपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्ती रूपमुक्तमभेदेन। पुनर्विशेषेण कार्यस्वभावयोर्जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ। तच्च दर्शयता, यत्र धूमस्तत्राग्निरसत्यग्नौ न क्वचिद्धूमो यथा महानसेतरयोः, यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वमनित्यत्वाभावे कृतकत्वासंभवो यथा घटाकाशयोरिति दर्शनीयम्। न ह्यन्यथा सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे शक्ये दर्शयितुम्। तत्कार्यतानियमः कार्यलिङ्गस्य स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन व्याप्तिः। अस्मिंश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति, एतावन्मात्ररूपत्वात्तस्येति ॥ १२३ ॥

हेतो रूपमभेदेनोक्तं सामान्येन। साधारणं कार्यस्वभावानुपलम्भानामेतल्लक्षणमित्यर्थः। किं पुनस्तत्सपक्ष एव यत्सत्त्वं विपक्षाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तिर्या, रूपद्वयमेतद्-

मैवोक्तम्। न च सामान्यमुक्तमपि शक्यं ज्ञातुम्। अतस्तदेव विशेषनिष्ठं वक्तव्यम्। अतः पुनरपि विशेषेण विशेषवन्तौ जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ। कार्यस्य जन्म ज्ञातव्यमुक्तम्। जन्मनि हि विज्ञाते कार्यस्य सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तिर्ज्ञाता भवति। स्वभावस्य तन्मात्रानुबन्धो दर्शनीय उक्तः। तदिति साधनं। तदेव तन्मात्रं साधनमात्रं। तस्यानुबन्धोऽनुगमनं साधनमात्रभावे भावः साध्यस्य। तन्मात्रभावित्वेनैव हि साध्यस्य तादात्म्यम्। साधनस्य यदा स्वभावो ज्ञातो भवति तदा स्वभावहेतोः सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तिर्ज्ञाता भवति। तदेव सामान्यलक्षणं विशेषात्मकं ज्ञातव्यं नान्यथा। ततो विशेषलक्षणमुक्तम्। किमतो यदि नामैवम्। तदित्याह। तत्र सामान्यलक्षणं दर्शयितुकामेन विशेषलक्षणं दर्शयतैवं दर्शनीयमिति संबन्धः। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति कार्यहेतोर्व्याप्तिर्दर्शिता। व्याप्तिश्च कार्यकारणभावसाधनात्प्रमाणान्निश्चीयते। ततो यथा महानस इति दर्शनीयम्। असत्यग्नौ न भवत्येव धूम इति व्यतिरेको दर्शितः। न च यथेतरस्मिन्निति दर्शनीयः। वह्निनिवृत्तिर्हि धूमनिवृत्तौ नियता दर्शनीया। सा च महानसादितरत्रेति दर्शनीया। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वमिति स्वभावहेतोर्व्याप्तिर्दर्शिता। अनित्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वमिति व्यतिरेको दर्शितः। व्याप्तिश्च साधकं प्रमाणं साधर्म्यदृष्टान्ते दर्शनीयम्। प्रसिद्धव्याप्तिकस्य च हेतोः साध्यनिवृत्तौ निवृत्तिर्दर्शनीया। तदवश्यं यथा घटे यथाकाशे चेति दर्शनीयम्। कस्मादेवमित्याह। न हीति। यस्मादन्यथा सामान्यलक्षणरूपे सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे इति नियते 'सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षेऽसत्त्वमेवेति नियमो यथोक्तप्रकारः' ते न शक्ये दर्शयितुम्। विशेषलक्षणे हि दर्शिते यथोक्तप्रकारे सदसत्त्वे दर्शिते भवतः। न च विशेषलक्षणमन्यथा शक्यं दर्शयितुम्। तस्य साध्यस्य कार्यं तत्कार्यं धूमः। तस्य भावस्तत्कार्यता। सैव नियमो यतस्तत्कार्यतया धूमो वह्निना नियतः। सोऽयं तत्कार्यतानियमो विशेषलक्षणरूपोऽन्यथा दर्शयितुमशक्यः। स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन साध्येन व्याप्तिर्विशेषलक्षणरूपा न शक्या दर्शयितुम्। यस्मात्कार्यकारणभावस्तादात्म्यं च महानसे घटे च ज्ञातव्यं तस्माद्व्याप्तिसाधनं प्रमाणं दर्शयता साधर्म्य-

दृष्टान्तो दर्शनीयः । वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु प्रसिद्धे तत्कार्यत्वे कारणाभावे कार्याभावप्रतिपत्त्यर्थः । तत एव नावश्यं वस्तु भवति । कारणाभावे कार्याभावो वस्तुन्यवस्तुनि वा भवति । ततो वस्त्ववस्तु वा वैधर्म्यदृष्टान्त इष्यते । तस्माद्दृष्टान्तव्यतिरेकेण हेतोरन्वयो व्यतिरेको वा न शक्यो दर्शयितुम् । अतो हेतुरूपाख्यानादेव हेतोर्व्याप्तिसाधकस्य प्रमाणस्य दर्शकः साधर्म्यदृष्टान्तः । प्रसिद्धव्याप्तिकस्य साध्याभावे हेत्वभावप्रदर्शनाद्वैधर्म्यदृष्टान्त उपादेय इति च दर्शितं भवति । अस्मिंश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति । यो ऽयमर्थो व्याप्तिसाधनप्रमाणप्रदर्शनः कश्चिदुपादेयो निवृत्तिप्रदर्शनश्चेत्यस्मिन्नर्थे प्रदर्शिते दर्शितो दृष्टान्तः । कस्मादित्याह । एतावन्मात्रं रूपं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादिति । एतावदेव हि रूपं दृष्टान्तस्य यदुत व्याप्तिसाधनप्रमाणदर्शनत्वं नाम साधर्म्यदृष्टान्तस्य । प्रसिद्धव्याप्तिकस्य वा साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिप्रदर्शकत्वमित्येतद्वैधर्म्यदृष्टान्तस्य । तच्च हेतुरूपाख्यानादेवाख्यातमिति किं दृष्टान्तलक्षणेन ।

एतेनैव दृष्टान्तदोषा अपि निरस्ता भवन्ति ॥ १२४ ॥

एतेनैव च हेतुरूपाख्यानाद्दृष्टान्तत्वप्रदर्शनेन दृष्टान्तस्य दोषा दृष्टान्ताभासाः कथिता भवन्ति । तथा हि । पूर्वोक्तासिद्धेय य उपादीयमानो ऽपि दृष्टान्तो न समर्थः स्वकार्यं साधयितुं स दृष्टान्तदोष इति सामर्थ्यादुक्तं भवति ।

दृष्टान्ताभासानुदाहरति ।

यथा नित्यः शब्दो ऽमूर्तत्वात् । कर्मवत्परमाणुवद्घटवदिति साध्यसाधनधर्मोभयविकलाः ॥ १२५ ॥

यथेति । नित्यः शब्द इति । शब्दस्य नित्यत्वे साध्ये ऽमूर्तत्वादिति हेतुः । साधर्म्येण कर्मवत्परमाणुवद्घटवदित्येते दृष्टान्ता उपन्यस्ताः । एते च दृष्टान्तदोषाः । साध्यं च साधनं चोभयं चेति तैर्विकलाः । साध्यविकलं कर्म । तस्यानित्यत्वात् । साध-

नाविकलः परमाणुः, मूर्तत्वात्परमाणूनाम्। असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिः। असर्वगताश्च द्रव्यरूपाश्च परमाणवः। नित्यास्तु वैशेषिकैरिष्यन्ते। ततो न साध्यविकलः। घटस्तूभयविकलः। अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्य।

तथा संदिग्धसाध्यधर्मादयश्च। यथा रागादिमानयं वचनाद्रथ्यापुरुषवत्। मरणधर्मा ऽयं पुरुषो रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत्। असर्वज्ञो ऽयं रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवदिति ॥ १२६ ॥

तथेति। संदिग्धः साध्यधर्मो यस्मिन्स संदिग्धसाध्यधर्मः। स आदिर्येषां ते तथोक्ताः। संदिग्धसाध्यधर्मः। संदिग्धसाधनधर्मः। संदिग्धोभयः। उदाहरणम्। रागादिमानिति रागादिमत्त्वं साध्यम्। वचनादिति हेतुः। रथ्यापुरुषवदिति दृष्टान्तः। रागादिमत्त्वं संदिग्धम्। मरणं धर्मो ऽस्येति मरणधर्मा, तस्य भावो मरणधर्मत्वं साध्यम्। अयं पुरुष इति धर्मी। रागादिमत्त्वादिति हेतुः। रथ्यापुरुषे दृष्टान्ते संदिग्धं साधनं, साध्यं तु निश्चितं मरणधर्मत्वमिति। असर्वज्ञ इति। असर्वज्ञत्वं साध्यम्। रागादिमत्त्वादिति हेतुः। तदुभयमपि रथ्यापुरुषे दृष्टान्ते संदिग्धम्। असर्वज्ञत्वं रागादिमत्त्वं चेति।

अनन्वयो ऽप्रदर्शितान्वयश्च। यथा यो वक्ता स रागादिमानिष्टपुरुषवत्। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति ॥ १२७ ॥

तथानन्वय इति। यस्मिन्दृष्टान्ते साध्यसाधनयोः संभवमात्रं दर्श्यते, न तु साध्येन व्याप्तो हेतुः, सो ऽनन्वयः। अप्रदर्शितान्वयश्च यस्मिन्दृष्टान्ते विद्यमानो ऽप्यन्वयो न प्रदर्शितो वक्त्रा, सो ऽप्रदर्शितान्वयः। अनन्वयमुदाहरति, यथेति। यो वक्तेति वक्तृत्वमनूद्य स रागादिमानिति रागादिमत्त्वं विहितम्। ततो वक्तृत्वस्य रागादिमत्त्वं प्रति नियमः। तेन व्याप्तिरुक्ता। इष्टपुरुषवदिति। इष्टग्रहणेन प्रतिवाद्यपि गृह्यते वाद्यपि। तेन वक्तृत्वरागादिमत्त्वयोः सत्त्वमात्रमिष्टे पुरुषे सिद्धम्। व्याप्तिस्तु न सिद्धा। तेनानन्वयो दृष्टान्त इति। अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वं साध्यम्। कृतकत्वादिति हेतुः।

घटवदित्यत्र दृष्टान्ते न प्रदर्शितो ऽन्वयः । इह यद्यपि कृतकत्वेन घटसदृशः शब्दस्तथापि नानित्यत्वेनापि सदृशः प्रत्येतुं शक्यो ऽतिप्रसङ्गात् । यदि तु कृतकत्वमनित्यत्वस्वभावं विज्ञातं भवत्येवं कृतकत्वादनित्यत्वप्रतीतिः स्यात् । तस्माद्यत्कृतकं तदनित्यमिति कृतकत्वमनित्यत्वनियतमभिधाय नियमसाधनायान्वयवाक्यार्थप्रतिपत्तिविषयो दृष्टान्त उपादेयः । न च प्रदर्शितान्वय इव । अनेन त्वन्वयवाक्यमनुक्त्वैव दृष्टान्त उपात्तः । ईदृशश्च साधर्म्यमात्रेणैवोपयोगी । न च साधर्म्यात्साध्यसिद्धिः । अतो ऽन्वयार्थो दृष्टान्तस्तदर्थश्चानेन नोपात्तः । साधर्म्यार्थश्चोपात्तो निरुपयोग इति वक्तृदोषादयं दृष्टान्तदोषः । वक्ता ह्यत्र परः प्रतिपादयितव्यः । ततो यदि नाम न दुष्टं वस्तु तथापि वक्त्रा दुष्टं दर्शितमिति दुष्टमेव ।

तथा विपरीतान्वयः । यदनित्यं तत्कृतकमिति ॥ १२८ ॥

तथा विपरीतो ऽन्वयो यस्मिन्दृष्टान्ते स तथोक्तः । तमेवोदाहरति । यदनित्यं तत्कृतकमिति । कृतकत्वमनित्यत्वनियतं दृष्टान्तेन दर्शनीयं । एवं कृतकत्वादनित्यत्वगतिः स्यात् । अत्र त्वनित्यत्वं कृतकत्वे नियतं दर्शितं । कृतकत्वं त्वनियतमेवानित्यत्वे । ततः कृतकत्वमनित्यत्वे नियतमेव । ततो यादृशमिह कृतकत्वमनियतमनित्यत्वे प्रदर्शितं तादृशान्नास्त्यनित्यत्वप्रतीतिः । तथा हि । यदनित्यमित्यनित्यत्वमनूद्य । तत्कृतकमिति कृतकत्वं विहितम् । अतो ऽनित्यत्वं नियतमुक्तं कृतकत्वे । न तु कृतकत्वमनित्यत्वे । ततो यथानित्यत्वादनियतात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वे न प्रयत्नानन्तरीयकत्वप्रतीतिस् । तद्वत्कृतकत्वादनित्यत्वप्रतिपत्तिर्न स्यात् । अनित्यत्वे ऽनियतत्वात्कृतकत्वस्य । यद्यपि च कृतकत्वं वस्तुस्थित्यानित्यत्वे नियतं तथाप्यनियतं वक्त्रा दर्शितम् । अतस्तत्स्वयं न दुष्टमपि वक्तृदोषाद्दुष्टम् । तस्माद्विपरीतान्वयो ऽपि वक्तुरपराधान्न वस्तुनः । परार्थानुमाने च वक्तुरपि दोषश्चिन्त्यत इति ।

साधर्म्येण ॥ १२९ ॥

साधर्म्येण नव दृष्टान्तदोषा उक्ताः ।

वैधर्म्येणापि । परमाणुवत्कर्मवदाकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥ ९० ॥

वैधर्म्येणापि नव दृष्टान्तदोषानभिधातुमाह । नित्यत्वे शब्दस्य साध्ये हेतावमूर्तत्वे परमाणुर्वैधर्म्यदृष्टान्तः साध्याव्यतिरेकी । नित्यत्वात्परमाणूनाम् । कर्म साधनाव्यतिरेकि । अमूर्तत्वात्कर्मणः । आकाशमुभयाव्यतिरेकि । नित्यत्वादमूर्तत्वाच्च । साध्यमादिर्येषां तानि साध्यादीनि साध्यसाधनोभयानि । तेषामव्यतिरेको निवृत्त्यभावः । न येषामस्ति ते साध्याद्यव्यतिरेकिणः । ते चोदाहृताः ।

अपरानुदाहर्तुमाह ।

तथा संदिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः । यथा सर्वज्ञाः कपिलादयो ऽनाप्ता वा । अविद्यमानसर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति । अत्र वैधर्म्योदाहरणं । यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् । तद्यथर्षभवर्धमानादिरिति । तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः ॥ ९१ ॥

तथेति । साध्यस्य व्यतिरेकः साध्यव्यतिरेकः । संदिग्धः साध्यव्यतिरेको यस्मिन्स संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः । स आदिर्येषां ते तथोक्ताः । संदिग्धसाध्यव्यतिरेकमुदाहर्तुमाह । यथेति । असर्वज्ञा इत्येकं साध्यम् । अनाप्ता अक्षीणदोषा इति द्वितीयम् । कपिलादय इति धर्मी । अविद्यमानसर्वज्ञतेत्यादिर्हेतुः । सर्वज्ञता चाप्तता च तयोर्लिङ्गभूतः प्रमाणातिशयो लिङ्गात्मकः प्रमाणविशेषः । अविद्यमानः सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतः प्रमाणातिशयो यस्मिंस्तत्तथोक्तं शासनं । तादृशं शासनं येषां ते तथोक्ताः । तेषां भावस्तत्त्वं । तस्मात् । प्रमाणातिशयो ज्योतिर्ज्ञानोपदेश इहाभिप्रेतः । यदि हि कपिलादयः सर्वज्ञा आप्ता वा स्युस्तदा ज्योतिर्ज्ञानादिकं कस्मान्नोपदिष्टवन्तः । न चोपदिष्टवन्तः । तस्मान्न सर्वज्ञा आप्ता वा ।

अत्र प्रमाणं वैधर्म्योदाहरणम् । यः सर्वज्ञ आप्तो वा न ज्योतिर्ज्ञानादिकं सर्वज्ञतातलिङ्गभूतमुपदिष्टवान् । यथा ' ऋषभो वर्धमानश्च तावादी यस्य स ऋषभवर्धमानादिर्दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति । तदिह वैधर्म्योदाहरणादृषभादेरसर्वज्ञतस्यानाप्ततायाश्च व्यतिरेको व्यावृत्तिः संदिग्धा । यतो ज्योतिर्ज्ञानं चोपदिशेदसर्वज्ञश्च भवेदनाप्तो वा । को ऽत्र विरोधः । नैमित्तिकमेतज्ज्ञानं व्यभिचारि न सर्वज्ञत्वमनुमापयेत् ।

संदिग्धसाधनव्यतिरेको यथा । न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ग्राह्यवचनः कश्चित्पुरुषो रागादिमत्त्वादिति । अत्र वैधर्म्योदाहरणं ' ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तः । तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति । गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः संदिग्धा ॥ १३२ ॥

संदिग्धः साधनव्यतिरेको यस्मिन्स तथोक्तः । तमुदाहरति । यथेति । ऋग्यजुःसामलक्षणानि त्रीणि त्रयी ' तां वेत्ति त्रयीवित् । तेन न ग्राह्यं वचनं यस्येति साध्यम् । विवक्षित इति कपिलादिर्धर्मी । रागादिमत्त्वादिति हेतुः । अत्र प्रमाणं वैधर्म्योदाहरणम् । साध्याभावः साधनाभावेन व्याप्तो यत्र दर्श्यते तद्वैधर्म्योदाहरणम् । ग्राह्यं वचनं येषां ते ग्राह्यवचना इति साध्यनिवृत्तिमनूद्य ' न ते रागादिमन्त इति साधनाभावो विहितः । गौतम आदिर्येषां ते तथोक्ता मन्वादयो ' धर्मशास्त्राणि स्मृतयस्तेषां कर्तारः । त्रयीविदा हि ब्राह्मणेन ग्राह्यवचना धर्मशास्त्रकृतो वीतरागाश्च त इति धर्मिव्यतिरेकविषयो गौतमादय इति । गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनस्य निवृत्तिः संदिग्धा । यद्यपि ते ग्राह्यवचनास्त्रयीविदा तथापि किं सरागा उत वीतरागा इति संदेहः ।

संदिग्धोभयव्यतिरेको यथा । अवीतरागाः कपिलादयः परिग्रहाग्रहयोगादिति । अत्र वैधर्म्योदाहरणं ' यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहो यथर्षभादेरिति । ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः ॥ १३३ ॥

संदिग्ध उभयोर्व्यतिरेको यस्मिन्स तथोक्तः । तमुदाहरति । यथेति । अवीत-

रागा इति रागादिमत्त्वं साध्यम्। कपिलादय इति धर्मी। परिग्रहो लभ्यमानस्य स्वीकारः प्रयत्नः। स्वीकारादूर्ध्वं पदार्थे मात्सर्यं स आग्रहः। परिग्रहश्चाग्रहश्च। ताभ्यां योगात्। कपिलादयो लभ्यमानं स्वीकुर्वन्ति स्वीकृतं न मुञ्चन्तीति ते रागादिमन्तो गम्यन्ते। अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम्। यत्र साध्याभावे साधनाभावो दर्शयितव्यः। यो वीतराग इति साध्याभावमनूद्य। न तस्य परिग्रहाग्रहाविति साधनाभावो विहितः। ऋषभादेरिति दृष्टान्तः। एतस्मादृषभादेर्दृष्टान्ताद्वीतरागत्वस्य साध्यस्य परिग्रहाग्रहयोगस्य च साधनस्य व्यावृत्तिः संदिग्धा। ऋषभादीनां हि परिग्रहाग्रहयोगो ऽपि संदिग्धो वीतरागत्वं च। यदि नाम तत्सिद्धान्ते वीतरागाश्च निष्परिग्रहाश्च पठ्यन्ते तथापि संदेह एव।

अपरानपि त्रीनुदाहर्तुमाह।

अव्यतिरेको यथा। अवीतरागो वक्तृत्वात्। वैधर्म्योदाहरणं। यत्र वीतरागत्वं नास्ति न स वक्ता। यथोपलखण्ड इति। यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं यो सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः॥ १२४॥

अविद्यमानो व्यतिरेको यस्मिन्सो ऽव्यतिरेकः। अवीतराग इति रागादिमत्त्वं साध्यम्। वक्तृत्वादिति हेतुः। इह व्यतिरेकमाह। यत्रावीतरागत्वं नास्तीति साध्याभावानुवादः। तत्र वक्तृत्वमपि नास्तीति साधनाभावविधिः। तेन साधनाभावेन साध्याभावो व्याप्त उक्तः। दृष्टान्तो यथोपलखण्ड इति। कथमयमव्यतिरेको यावतोपलखण्डादुभयं निवृत्तम्। किमतो यद्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं सरागत्वं च वक्तृत्वं च। तथापि व्याप्त्या व्यतिरेको यस्तस्यासिद्धेः कारणादव्यतिरेको ऽयम्। कीदृशी पुनर्व्याप्तिरित्याह। सर्वो वीतराग इति साध्याभावानुवादः। न वक्तेति साधनाभावविधिः। तेन साध्याभावः साधनाभावनियतः ख्यापितो भवतीति। ईदृशी व्याप्तिः। तया व्यतिरेको न सिद्धः। अस्य चार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तः। तत्स्वकार्याकरणाद्दुष्टः।

अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति ॥ ९५ ॥

अप्रदर्शितो व्यतिरेको यस्मिन्स तथोक्तः । अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वं साध्यम् । कृतकत्वादिति हेतुः । आकाशवदिति वैधर्म्येण दृष्टान्तः । इह परार्थानुमाने परस्मादर्थः प्रतिपत्तव्यः । स शुद्धो ऽपि स्वतो यदि परेणाशुद्धः ख्याप्यते स तावत्तथा प्रकाशितस्तथा न युक्तो यथा युक्तस्तथा न प्रकाशितः । प्रकाशितश्च हेतुः । अतो वक्तुरपराधादपि परार्थानुमाने हेतुर्दृष्टान्तो वा दुष्टः स्यादपि । न च सादृश्यादसादृश्याद्वा साध्यप्रतिपत्तिर् अपि तु साध्यनियताद्धेतोः । अतः साध्यनियतो हेतुरन्वयवाक्येन व्यतिरेकवाक्येन च वक्तव्यः । अन्यथा गमको नोक्तः स्यात् । स तथोक्तो दृष्टान्तेन सिद्धो दर्शयितव्यः । तस्माद्दृष्टान्तो नामान्वयव्यतिरेकवाक्यार्थप्रदर्शनः । न चेह व्यतिरेकवाक्यं प्रयुक्तम् । अतो वैधर्म्यदृष्टान्त इहासादृश्यमात्रेण साधक उपन्यस्तो न च तथा साधकः । व्यतिरेकविषयत्वेन स साधको न च तथोपन्यस्त इति । अतो ऽप्रदर्शितव्यतिरेको वक्तुरपराधाद्दुष्टः ।

विपरीतो व्यतिरेको यस्मिन्वैधर्म्यदृष्टान्ते स तथोक्तः । तमुदाहरति ।

विपरीतव्यतिरेको यथा । यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति ॥ ९६ ॥

यदकृतकमित्यादि । इहान्वयव्यतिरेकवाक्याभ्यां साध्यनियतो हेतुर्दर्शयितव्यः । यदा च साध्यनियतो हेतुर्दर्शयितव्यस्तदा व्यतिरेकवाक्ये साध्याभावः साधनाभावे नियतो दर्शयितव्यः । एवं हि हेतुः साध्यनियतो दर्शितः स्यात् । यदि तु साध्याभावः साधनाभावे नियतो नाख्यायते साधनसत्तायामपि साध्याभावः संभाव्येत । तथा च साधनं साध्यनियतं न प्रतीयेत । तस्मात्साध्याभावः साधनाभावे नियतो वक्तव्यः । विपरीतव्यतिरेके च साधनाभावः साध्याभावे नियत उच्यते न साध्याभावः साधनाभावे । तथा हि । यदकृतकमिति साधनाभावमनूद्य तन्नित्यमिति साध्याभावविधिः । ततो ऽयमर्थः । अकृतको नित्य एव । तथा च सत्यकृतकत्वं नित्यत्वे साध्याभावे नियतमुक्तं

न निवृत्तं साधनाभावे। ततो न साध्यनियतत्वमुक्तं व्यतिरेकावचनात्। तथा च विपरीतव्यतिरेको ऽपि वक्तुरपराधाद्दुष्टः।

दृष्टान्तदोषानुदाहृत्य दुष्टत्वनिबन्धनत्वं दर्शयितुमाह।

न ह्येभिर्दृष्टान्ताभासैर्हेतोः सामान्यलक्षणं सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वमेव निश्चयेन शक्यं दर्शयितुं विशेषलक्षणं वा। तदर्थापत्त्यैषां निरासो वेदितव्यः ॥ १३७ ॥

न ह्येभिरिति। साध्यनियतत्वप्रदर्शनाय हि दृष्टान्ता वक्तव्याः। एभिश्च हेतोः सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वमेव यत्सामान्यलक्षणं तन्निश्चयेन न शक्यं दर्शयितुम्। ननु च सामान्यलक्षणं विशेषनिष्ठमेव प्रतिपत्तव्यं न स्वत इत्याह। विशेषलक्षणं वा। यदि विशेषलक्षणं प्रतिपादयितुं शक्येत स्यादेव सामान्यलक्षणप्रतिपत्तिः। विशेषलक्षणमेव तु न शक्यमेभिः प्रतिपादयितुम्। तस्मादर्थापत्त्या सामर्थ्येनेति तेषां निराकरणं द्रष्टव्यम्। साध्यनियतसाधनप्रतीतये दृष्टान्ताः। तदसमर्था दुष्टाः स्वकार्याकरणादिति सामर्थ्यम्। इयता साधनमुक्तम्।

दूषणं वक्तुमाह।

दूषणानि न्यूनताद्युक्तिः ॥ १३८ ॥

दूषणानि कानि कर्तव्यानि। न्यूनतादीनामुक्तिः। उच्यते ऽनयेत्युक्तिर्वचनम्। न्यूनतादिवचनं दूषणं विवरीतुमाह।

ये पूर्वं न्यूनतादयः साधनदोषा उक्तास्तेषामुद्भावनं दूषणम्। तेन परेष्टार्थसिद्धिप्रतिबन्धात् ॥ १३९ ॥

ये पूर्वं न्यूनतादयो ऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिका उक्तास्तेषामुद्भावकं वचनं तद्दूषणम्। ननु च न्यूनतादयो न विपर्ययसाधनात् तत्कथं दूषणमित्याह। तेन न्यूनतादि-

वचनेन परेणानिष्टव्यासावयवं तस्य सिद्धिर्निश्चयस्तस्याः प्रतिबन्धात् । नावश्यं विपर्ययसाधनादेव दूषणं विरुद्धवत् । अपि तु परस्याभिप्रेतनिश्चयप्रतिबन्धान्निश्चयाभावो भवति । निश्चयविपर्यय इत्यस्ति विपर्ययसिद्धिरिति । उक्तं दूषणम् ।

दूषणाभासास्तु जातयः ॥ १४० ॥

दूषणाभासा इति । दूषणवदाभासन्त इति दूषणाभासाः । के ते । जातयः । जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणीति । उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वादुत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि ।

तदेवोत्तरसादृश्यमुत्तरस्थानप्रयुक्तत्वेन दर्शयितुमाह ।

अभूतदोषोद्भावनानि जात्युत्तराणीति ॥ १४१ ॥

अभूतस्यासत्यस्य दोषस्योद्भावनानि । उद्भाव्यत एतैरित्युद्भावनानि वचनानि । तानि जात्युत्तराणि । जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणीति ।

कतिपयपदवस्तुव्याख्यया यन्मयाप्तं
कुशलममलमिन्दोरंशुवन्न्यायबिन्दोः ।
पदमजरमवाप्य ज्ञानधर्मोत्तरं यत्
जगदुपकृतिमात्रव्यापृतिः स्यामतोऽहम् ॥

समाप्तेयं न्यायबिन्दुटीका कृतिराचार्यधर्मोत्तरस्य ॥

सहस्रमेकं श्लोकानां तथा शतचतुष्टयम् ।
सप्तसप्ततिसंयुक्तं निपुणं परिपिण्डितम् ॥

XVIII. Tārānātha's Edelsteinmine, das Buch von den Vermittlern der sieben Inspirationen. Aus dem Tibetischen übersetzt von A. Grünwedel. Fsc. I—II.

XIX. Тибетскій переводъ сочиненій Saṃtānāntarasiddhi Dharmakīrti и Saṃtānāntarasiddhiṭīkā Vinītadeva вмѣстѣ съ тибетскимъ толкованіемъ, составленнымъ Агваномъ Дандаръ-Лхарамбой издалъ Ѳ. И. Щербатской. Fsc. I—II.

XX. Тибетскій переводъ Abhidharmakoçakārikāḥ и Abhidharmakoçabhāṣyam сочиненій Vasubandhu. Издалъ Ѳ. И. Щербатской. Fsc. I.

XXI. Sphuṭārthā Abhidharmakoçavyākhyā the work of Yaçomitra. I Fsc. Edited by Prof. S. Lévi and Prof. Th. Stcherbatsky (Ščerbatskoj).

Печатаются: Sous presse:

VII. Nyāyabindu и Nyāyabinduṭīkā (санскритскій текстъ). Изд. Ѳ. И. Щербатской. II Fsc.

VIII. Nyāyabindu и Nyāyabinduṭīkā (тибетскій переводъ). Изд. Ѳ. И. Щербатской. III Fsc.

XVI. Buddhapālita. Mūlamadhyamakavṛtti. Tibetische Übersetzung. Herausgegeben von M. Walleser. III Fsc.

XVII. В. В. Радловъ и С. Е. Маловъ. Сутра Золотого блеска (Suvarṇaprabhāsa). Уйгурская редакція. Fsc. IX.

XXI. Sputārthā Abhidharmakoçavyākhyā. Fsc. II. Edited by Prof. U. Wogihara and Prof. Th. Stcherbatsky (Ščerbatskoj). Abhisamayālaṃkāraprajñāpāramitopadeçaçāstra (санскритскій и тибетскій тексты). Изд. Ѳ. И. Щербатской. II Fsc.

Б. Б. Барадійнъ. Описаніе статуи Майтреи въ Золотомъ храмѣ въ Лавранѣ. Переводъ съ тибетскаго.

Kāçyapaparivarta. По хотанской рукописи Н. Ѳ. Петровскаго изд. баронъ А. А. фонъ Сталь-Гольстейнъ.

Приготовляются къ печати: En préparation:

Nyāyapraveça, съ комментаріемъ Haribhadra. Изд. Н. Д. Мироновъ.

Karuṇāpuṇḍarīka. Ed. by C. M. Ridding.

Pañcaviṃçatisāhasrikāprajñāpāramitāsūtra. Изд. Ѳ. И. Щербатской и Б. Б. Барадійнъ.

Kālacakratantra. Ed. Prof. A. Grünwedel.

Sādhanamālā. Изд. С. Ѳ. Ольденбургъ.

Saddharmalaṅkāvatāra. Изд. Ѳ. И. Щербатской.

Pañcarakṣā. Изд. С. Ѳ. Ольденбургъ.

Buddhapratimālakṣaṇa. Изд. С. Ѳ. Ольденбургъ.

BIBLIOTHECA BUDDHICA.

СОБРАНІЕ БУДДІЙСКИХЪ ТЕКСТОВЪ,

ИЗДАВАЕМЫХЪ РОССІЙСКОЙ АКАДЕМІЕЮ НАУКЪ

ПОДЪ РЕДАКЦІЕЮ АКАДЕМИКА С. Ѳ. ОЛЬДЕНБУРГА.

Изданы: Publiés:

I. Çikṣāsamuccaya. Ed. C. Bendall. Fsc. I—IV.

II. Rāṣṭrapālaparipṛcchā. Publ. par L. Finot. Fsc. I.

III. Avadānaçataka. Ed. J. S. Speyer. Vol. I (Fsc. I—IV). Vol. II (Fsc. I—IV).

IV. Madhyamakavṛtti. Publ. par L. de la Vallée Poussin. Fsc. I—VII.

V. Сборникъ 300 Бурхановъ. Изд. С. Ѳ. Ольденбургъ. Ч. I. Fsc. I.

VI. А. Грюнведель. Описаніе буддійскаго собранія кн. Э. Э. Ухтомскаго. Fsc. I—II.

VII. Nyāyabindu и Nyāyabinduṭikā (санскритскій текстъ). Изд. Ѳ. И. Щербатской. I Fsc.

VIII. Nyāyabindu и Nyāyabinduṭīkā (тибетскій переводъ). Изд. Ѳ. И. Щербатской. I—II Fsc.

IX. Madhyamakāvatāra par Candrakīrti (traduction tibétaine). Publ. par L. de la Vallée Poussin. Fsc. I—V.

X. Saddharmapuṇḍarīka. Ed. by Prof. H. Kern and Prof. Bunyiu Nanjio. Fsc. I—V.

XI. Nyāyabinduṭīkāṭippaṇī (толкованіе на сочиненіе Дармоттары Nyāyabinduṭikā). Санскритскій текстъ съ примѣчаніями издалъ Ѳ. И. Щербатской. Fsc. I.

XII. Tišastvustik, ein in türkischer Sprache bearbeitetes Buddhistisches Sūtra. I. Transscription und Übersetzung von W. Radloff. II. Bemerkungen zu den Brāhmīglossen des Tišastvustik-Manuscripts (Mus. As. Kr. VII) von Baron A. von Staël-Holstein. Fsc. I.

XIII. Mahāvyutpatti. Издалъ И. П. Минаевъ. Второе изданіе, съ указателемъ. Приготовилъ къ печати Н. Д. Мироновъ. Fsc. I—III.

XIV. Kuan-ši-im Pusar. Eine türkische Übersetzung des XXV Kapitels der chinesischen Ausgabe des Saddharmapuṇḍarīka. Herausgegeben und übersetzt von W. Radloff. Fsc. I.

XV. Kien-ch'ui-fan-tsan (Gaṇḍīstotragāthā), сохранившійся въ китайской транскрипціи санскритскій гимнъ Açvaghoṣ'и. Издалъ и при помощи тибетскаго перевода объяснилъ бар. А. фонъ-Сталь-Гольстейнъ. Fsc. I—II.

XVI. Buddhapālita. Mūlamadhyamakavṛtti. Tibetische Übersetzung. Herausgegeben von M. Walleser. I—II Fsc.

XVII. В. В. Радловъ и С. Е. Маловъ. Сутра Золотого блеска (Suvarṇaprabhāsa). Уйгурская редакція. I—VIII Fsc.

См. на оборотѣ.